

**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182533

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83
S 11 P

Accession No. G.H. 2471

Author रत्नरवान, कंचनकला

Title पुनरुद्धार १९५३

This book should be returned on or before the date last marked below.

पुनरुद्धार

पुनरुद्धार

लेखिका

कंचनलता सम्बरवाल

एम. ए., पी-एच. डी.

१९५३

आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विश्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य तीन रुपये

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

समर्पण

उन्हें जिन्होंने जननी जन्मभूमि की पवित्रता की रक्षा के लिए
अगणित बलिदान किये...उन्हें जिन्होंने माँ गंगा की पावनता की
पुनःस्थापना की...उन्हें जो आज भी दीन-हीन अबलाओं की रक्षा
के लिए प्राणों की बाज़ी लगा दिया करते हैं।

...कंचन

अपनी बात

प्रायः अभी कुछ दिन पूर्व तक लगभग १५० ई० से ३५० ई० तक का समय भारत के इतिहास में अन्धकार युग ही माना जाता था। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल के, इस क्षेत्र में, अनुसंधान ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह युग भारतीय इतिहास का प्रकाशमय युग है। इसी काल में हिन्दू साम्राज्य की पुनर्स्थापना हुई। भारशिवों के प्रथम राजा नवनाग ने कुशनों के अन्तिम सम्राट् वासुदेव की शक्ति इतनी क्षीण कर दी कि सम्भवतः उसकी मृत्यु के पश्चात् कुशन-साम्राज्य नष्ट हो गया। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसंधान के पश्चात् अब यह तो कहा ही नहीं जा सकता है कि स्वर्ण युग के प्रवर्तक गुप्तों से पूर्व भारत में कोई एक सर्वोपरि प्रधान शक्ति थी ही नहीं। त्याग और वैराग्य का प्रतीक बौद्धमत उस समय विदेशी शासकों के साथ मिलकर अपनी आध्यात्मिक शक्ति की प्रखरता खो चुका था। भारशिवों ने वैराग्य, त्याग और आध्यात्मिकता का आधार लेकर साम्राज्य की स्थापना की। ये शिव के भक्त थे तथा शिव के सेवक के रूप में ही राज्य भी करते थे। भारशिवों ने दस अश्वमेध यज्ञ गंगा-तट पर किये और उनका राज्याभिषेक भी गंगा के ही जल से हुआ था। इस उपन्यास में गत गौरव की पुनर्स्थापना करने वाले भारशिवों के इतिहास से ही कथानक लिया गया है।

शिवनन्दी अथवा शिवदात एक शाखा का अन्तिम शासक था और दूसरी शाखा का आरम्भ नवनाग से होता है। प्रथम भारशिव नवनाग ही थे। शिवनन्दी से मैंने जो कल्पना द्वारा नवनाग का सम्बन्ध दिखाया है वह सर्वथा काल्पनिक है। नवनाग और वीरसेन के अतिरिक्त सब ही पात्र काल्पनिक हैं।

घटनाओं में से भारशिवों का मध्य प्रदेश की पहाड़ियों से घिरे इलाके में लगभग पचास वर्ष तक अज्ञातवास करने और लगभग १४० ई० के आसपास उत्तराखण्ड में आकर कुशनों को परास्त करके अपना साम्राज्य स्थापित करने तथा अश्वमेध यज्ञ करने के अतिरिक्त सब ही काल्पनिक हैं।

इतनी बड़ी कुशन साम्राज्य शक्ति के विरुद्ध खड़े होकर सफलता प्राप्त करना बहुत बड़े साहस का कार्य था। पढ़ने पर हृदय पर एक गम्भीर छाप पड़ी, अतः उसी से कल्पना के तार निकलकर इधर-उधर ताना-बाना तानने लगे। फलस्वरूप इसका जन्म हुआ। यदि इसे पढ़कर कोई एक भी पाठक अनन्त शिव-भक्त त्यागी भारशिवों की स्मृति, उनका पुनीत कार्य, उनका अद्भुत पराक्रम हृदयांगम कर सके, यदि कोई भी एक जोड़ा नेत्र उनकी स्मृति से भीग उठे तो मेरा आनन्द द्विगुणित हो जायगा।

जय शिव ! जय भारशिव !!

लखनऊ

गोपाष्टमी, संवत् २०१०

कंचनलता सम्बरवाल

पुनरुद्धार

१

प्रतिज्ञा

“हृदय-रक्त से हे देव ! तुम्हारी उपासना आज बीस वर्ष से कर रहा हूँ । प्रभो ! कब समय आवेगा ? कब आवेगा ??... कब आवेगा ???” उनके कर्ण पर्यन्त विशाल नेत्रों में विचित्र चमक थी । उनकी दीर्घ काया श्वेत-शुद्ध-काषाय वस्त्र में और भी अधिक ऊँची जान पड़ती थी...उनका सौम्य मुखमण्डल अद्भुत रीति से दीप्तिमान् हो उठा था । चारों ओर से काले पत्थरों से घिरी गुफा में दीपक की ज्योति उनके मुख पर पड़कर उसे अधिक पीत-सा दिखा रही थी । अनेकों मुख वाले पात्र को हाथ से नीचे भूमि पर रखकर उन्होंने साष्टांग प्रणाम किया । तत्पश्चात् भूमिष्ठ होकर कातर स्वर में कह उठे, “चन्द्रशेखर... चन्द्रशेखर...चन्द्रशेखर रक्षमाम्...” स्वर में मानो उनका गर्विष्ठ प्राण ही कातर होकर प्रवाहित हो रहा था । दूर तक विस्तृत गम्भीर अन्धकार को तनिक-सा ठेलती हुई दीपक की शिखा काँप उठी... प्रस्तर भित्तियाँ भी काँप उठीं...जान पड़ा कि विश्व ब्रह्माण्ड काँप उठेगा...वह कह रहे थे...पुकार रहे थे...आवाहन कर रहे थे—“चन्द्रशेखर...चन्द्रशेखर...चन्द्रशेखर रक्षमाम्...” वह करबद्ध बैठे थे भूमि पर...सम्मुख काले प्रस्तर-निर्मित शिवलिंग तनिक उच्च काली प्रस्तर-शिला पर स्थापित था... स्वर्ण

घट से बिन्दु-बिन्दु करके शिवलिंग पर पड़ता हुआ जल कभी-कभी काँप उठता था । दीपक की बहुमुखी ज्योतियाँ भी काँप उठती थीं । सम्पूर्ण वातावरण करुण हो उठा था । उन्होंने धीरे-धीरे स्वर धीमा किया...विशाल नेत्रों से प्रवाहित अश्रु गण्डस्थल सिक्त कर रहे थे । उनके कर द्वै जुड़े हुए थे । उनके ओष्ठ काँप रहे थे...समस्त शरीर में मानो विद्युत-प्रवाह-सा हो रहा था... उनके ठीक पीछे एक और व्यक्ति खड़ा था । उसके बलिष्ठ शरीर को देखकर सहज ही जान पड़ता था कि वह सैनिक है, वीर है, योद्धा है । उसके तेजस्वी मुखमण्डल को देखकर जान पड़ता था कि वह प्रतापी है । वह गम्भीर था, शान्त था । उसके शरीर पर भी शुद्ध एक ही वस्त्र था किन्तु वस्त्र अत्यन्त मूल्यवान् जान पड़ता था । उसके कण्ठ में बहुमूल्य मुक्ता-कण्ठहार तथा शुभ्र चरणों में बहुरत्न-जटित काष्ठ पदत्राण हैं । उसके घुँघराले केश मुखमण्डल को घेरे हुए हैं...उसके ज्योतिर्पूर्ण नेत्रों में व्याकुलता है किन्तु विवशता नहीं, वेदना है किन्तु कटुता नहीं...उदासी है किन्तु गम्भीर दृढ़ निश्चय भी...उनके अधरों से भी निरन्तर चन्द्रशेखर...चन्द्रशेखर...चन्द्रशेखर रत्नमाम् पाहिमाम्..... निकल रहा है...वह कभी शिवलिंग की ओर देखते हैं और कभी उस विशाल मानव-मूर्ति की ओर... उनके नेत्रों में अगाध श्रद्धा उमड़ी पड़ती है...उन्होंने भी समय-समय पर भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया वह निरन्तर दूसरी गौरवपूर्ण मानव-मूर्ति को अधीरता से देख रहे थे । धीरे-धीरे कण्ठ-स्वर क्षीण होता गया... यहाँ तक कि स्वर सुन भी नहीं पड़ता था...उनका समस्त शरीर कम्पायमान हो रहा था । अधर्मुँदे नयन मुँदते जा रहे थे । ज्योंही उनका स्वर अधिकाधिक क्षीण होने लगा राजपुरुष सरीखे दिखाई देने वाले दूसरे व्यक्ति ने उनके निकट घुटने टेककर तथा कुछ झुककर उच्च स्वर में पाठ करना आरम्भ किया...वीरोचित

गम्भीर कण्ठ से स्वरसहित शब्द प्रवाहित हो रहे थे—

रत्न सानुशरासनं रजताद्रि शृङ्ग निकेतनम् ।

सिंजिनी कृत पन्नमेश्वरमच्युतानन सायकम् ॥

क्षिप्रदग्धपुरत्रयं त्रिदिवालयैरभिवंदितम् ।

चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

स्वर धीरे-धीरे ऊँचा हो रहा था और भूमिष्ठ पुरुष का शरीर भी अधिकाधिक कम्पायमान होता जा रहा था । अचानक विद्युत्-वेग से भूमिष्ठ व्यक्ति उठकर बैठ गये । उनके शरीर का कम्प भी स्थिर हो गया । नयनों से, यद्यपि वह अधमूँदे ही थे, ज्योति-सी निकलने लगी । वह शिवलिंग की ओर ही लक्ष्य किये थे । राजपुरुष मौन होकर उनकी ओर स्थिर दृष्टि से करबद्ध होकर देख रहे थे । धीरे-धीरे उनके मुख से असम्बद्ध भाषा निकलने लगी “तो तुम क्यों नहीं आते ? यह कब तक चलेगा...गौ-ब्राह्मण की रक्षा कैसे होगी...यह विशाल भूखण्ड... नहीं नहीं नहीं चलेगा...कैसे...हाँ...तो फिर...आक्रम्या-क्रम्य न चिरं ” उनके होठ काँप रहे थे, उनके अधसुले नेत्रों से मानो अग्नि-स्फुलिंग भर रहे थे...वह तनिक देर कुछ धीरे-धीरे बोलते रहे... राजपुरुष के सर्वांग केवल कर्णमात्र ही रह गया था फिर भी शब्द सुन नहीं पड़ते थे...कुछेक क्षण पश्चात् शब्द सुनाई देने लगे । वह कह रहे थे—“चिरं चिरं चिरं त्रत स्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति...ओह !...आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान् स्लेच्छविच्छेद नाभिः...अनाचार अत्याचार...पुनरपि ज्योति रक्षा आवाहन...त्याग...तपस्या वैराग्य निस्वार्थ... विजय राष्ट्र...धर्म...संस्थापना...” एकबारगी काँपकर वह भूमिष्ठ हो गये । राजपुरुष ने अत्यन्त श्रद्धा, भय एवं विनयसहित उनके शरीर को सँभाल लिया । “चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर रक्षामा” का

उच्चारण करते-करते उन्होंने शिवलिंग से शिला पर गिरते हुए जल की कुछ के बूँदें लेकर परम आदरसहित उनके मुँदे हुए नयनों पर लगा दीं। उसी जल की कुछेक बूँदें उनके मुख में भी डाल दीं। तत्पश्चात् उनके चरणों पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगे। कुछ देर पश्चात् वह उठकर बैठ गये। उनके होंठ अब हिल रहे थे। सम्भवतः उनमें से शब्द निकल रहा था “चन्द्रशेखर... चन्द्रशेखर ” अब उन्होंने दूसरे पुरुष को देखा...मधुर कण्ठ से वह कह उठे आर्त स्वर से—“वत्स ! नवनन्दी तुम ”

“गुरुदेव...” श्रद्धा विगलित कण्ठ से कहा उस राजपुरुष ने।

“देवादिदेव की क्या आज्ञा हुई है वत्स ?”

“गुरुदेव...ज्योति...रक्षा...आवाहन...त्याग...तपस्या... वैराग्य...निस्वार्थ...विजय... राष्ट्र...धर्म...संस्थापना...अन्तिम शब्द यही थे।” कहकर आशान्वित दृष्टि से नवनन्दी गुरुदेव की ओर देख रहे थे।

गुरुदेव कुछ काल तक विचार करते रहे, फिर हृद स्वर में बोल उठे—“वत्स ! जान पड़ता है शिव के भक्तों को कार्यक्षेत्र में उतरना होगा...अज्ञातवास की लम्बी अन्धकारपूर्ण अवधि समाप्त होगी और तुम्हें देश का इस राजनीतिक एवं सामाजिक संकट से उद्धार करना होगा नवनन्दी आज से लगभग पैंतालीस वर्ष से अधिक समय बीत गया है। एक दिन मेरे पिता तुम्हारे पिता—बालक विराट नन्दी को—मलेच्छ कुशनों के खड्ग तेल से निकालकर भीषण अत्याचार सहन करते हुए वर्ष त्रय में पतित-पावनी माँ गंगा के तट से इस सुदूर पर्वतों से रक्षित प्रदेश में पहुँचे थे...निर्मल पर्वतमाला से रक्षित प्रदेश में अनेकानेक कष्ट सहन करके, यहाँ तक कि प्राणों की भी चिन्ता न करके, उन्होंने उस नन्हें-से बालक के नाम पर...नागवंश के नाम पर नागराज्य की स्थापना की...उसकी रक्षा की...क्यों ? जानते हो ? जानते

हो ?? ...” गुरुदेव का मुखमण्डल अग्नि-सम तेजपूर्ण हो उठा था। उनके विशाल नेत्र तप्त अंगार से दिखाई देते थे। उनका स्वर कठोर हो गया था। विनीत स्वर में नवनन्दी ने कहा—
“गुरुदेव के मुख से अनेक बार सुन चुका हूँ ”

“आज फिर सुनो, नवनन्दी ! कुशन सम्मुख युद्ध में अपनी समस्त शक्ति...अद्भुत सैन्यबल लेकर भी शिवनन्दी को परास्त नहीं कर सकते थे...शिवरक्षित व्यक्ति को तो यम भी भयभीत नहीं कर सकते किन्तु किन्तु ” उनके नेत्रों से अग्नि-वर्षा हो रही थी—“विश्वासघात ने उस वीर को परास्त करा दिया । रणक्षेत्र में शर-शैया पर महानिद्रा में मग्न होने से पूर्व उसने कहा था त्रिलोचन पंडित से...मेरे पूजनीय पिता से । उस समय मैं निरा आठ वर्ष का बालक ही तो था। फिर भी मुझे उनका कथन आज भी शब्दशः स्मरण है। उन्होंने कहा था—

“गुरुदेव ! क्या यह पवित्र भूमि यह पतित-पावनी माँ गंगा मलेच्छों की क्रीड़ास्थली बनेगी ? गुरुदेव विराट बालक हैं, और तब त्रिलोचन पंडित ने उस अद्भुत वीर... उस देश की पीड़ा से पीड़ित महान् आत्मा से प्रतिज्ञा की थी कि वह देव-ब्राह्मण की रक्षा के लिए माँ गंगा की पवित्रता की रक्षा के लिए प्राण देकर भी विराट को... नागवंश को... जीवित रखेगा।” गुरुदेव मौन हो गये। क्षणिक को... नवनन्दी शान्त भाव से सुन रहे थे। तनिक ठहरकर गुरुदेव फिर कहने लगे उतने ही तित्त कण्ठ से—“आज लगभग अर्द्ध शती बीत गई...गौ-ब्राह्मण पर अत्याचार उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं... देश में हाहाकार मच रहा है... पृथ्वी अनाथ होकर विलख रही है और त्रिलोचन पंडित के वंशजों को उनकी प्रतिज्ञा दोहरानी पड़ती है...जान पड़ता है अब समय आ गया है। सम्भवतः गंगेश्वर भगवान् शिव तुम्हारे हाथों ही भारत-भूमि का उद्धार करायेंगे। यदि उन्हें यह इष्ट

न होता तो विराट नन्दी की अल्पायु में ही मृत्यु न हो जाती और तुम आज रक्षा और विजय शब्द नहीं सुनते किन्तु आवश्यकता है त्याग, तपस्या, वैराग्य और निस्वार्थ वृत्ति की .. त्रिशूलपाणि तुम्हारे सहायक होंगे नवनन्दी . शंकर स्वयं तुम्हारा मार्ग प्रदर्शन करेंगे मेरी रक्षा करो मेरी लाज रखना हे चन्द्र-शेखर...” कहकर गुरुदेव ने फिर साष्टांग प्रणाम किया । शान्त, गम्भीर नवनन्दी ने गुरुदेव के चरण छू लिये ।

“गुरुदेव की आज्ञामात्र से अग्नि में कूद सकता हूँ किन्तु गुरुदेव विशाल कुशान साम्राज्य का विरोध एकाकी नवनन्दी कर सकेगा ?”

“पुत्र ! तुम्हें सन्देह क्यों होता है .. त्रिशूलपाणि का त्रिशूल तुम्हारे शत्रुगण का हनन तो तुम्हारे खड्ग उठाने से पूर्व ही कर चुकेगा वत्स ! तुम जानते हो तुम्हीं मेरे एकमात्र आशाकेन्द्र हो .. खड्ग छूकर प्रतिज्ञा करो कि देश को मलेच्छ-शून्य करने के लिए प्राण तक दोगे भले ही फल कुछ भी न हो फल की आशा त्यागकर केवल कर्ममात्र .. कर्तव्यमात्र ही करोगे . शिव साक्षात् शिव तुम्हारे सम्मुख हैं वत्स ! प्रतिज्ञा करो ..” गुरुदेव ने उच्च स्वर में कहा ।

नवनन्दी ने कोष से खड्ग निकालकर गुरुदेव के चरणों का स्पर्श किया । तत्पश्चात् दाहिने अँगूठे को खड्ग की धार पर दबाकर अंगरक्त निकाला । उससे शिला पर अर्चन करके उन्होंने केवल इतना ही कहा—“भवानी !...माँ !...तेरी शपथ लेकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि देश की सेवा में उसे मलेच्छ-शून्य करने के प्रयत्नों में प्राण अर्पित करूँगा ..”

गुरुदेव के विशाल अग्निपूर्ण नेत्रों में जल भर आया । उन्होंने उस प्रियदर्शी राजपुरुष को खींचकर हृदय से लगा लिया । उनके अवरुद्ध कण्ठ से केवल इतना ही निकल सका—“वत्स !

सुदूर माँ भागीरथी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है । उसके तट को अश्वमेध यज्ञ से पवित्र कर देना और वहीं अपने पूर्वजों को... आर्य शिवनन्दी को पिण्ड देना । उसकी अतृप्त आत्मा आज भी वायुमण्डल में घूम रही है तब ही मैं भी माँ गंगा के तट पर त्रिलोचन पंडित को पिण्ड दे सकूँगा...हे देवादिदेव महादेव ! वह...दिन कब आयेगा..." उनके नेत्रों से दो बँदें जल की नव-नन्दी के मस्तक पर चू पड़ीं । नवनन्दी को अचानक ही जान पड़ा कि उसका अभिषेक हो गया...वह सम्राट् हो गया । उसके मस्तक पर गंगा का पवित्र जल चू गया हो । उसने आनन्दातिरेक से नयन बन्द कर लिये ।

सचाधारी का पोष्य पुत्र

“मैंने जीवन में एक ही रूप पहचाना है और मृत्युपर्यन्त उसी का ध्यान करूँगी...नीच...” उसका कण्ठ-स्वर तिक्त था किन्तु उसमें हार्दिक वेदना...करुणा उमड़ रही थी।

“किन्तु अब तेरे लिए और उपाय भी क्या है?”

“भारतीय नारी को उपाय नहीं खोजना होता है, दुष्ट!”

“अच्छा, अच्छा सो भी देखा जायगा?”

वह ठठाकर हँस दिया। वह एक लम्बा-चौड़ा दैत्य-सम पुरुष था। उसकी आकृति विचित्र-सी थी। मुख गोल तथा नासिका चपटी थी। मुख पर दाढ़ी का चिह्न तक न था। देखने से मुख पर कुछ क्रूरता-सी दिखाई देती थी। उसके वस्त्र मूल्यवान् थे। वह एक ऊँचे-से आसन पर आसीन था। और उसके सम्मुख धरती पर एक अद्वितीय सुन्दरी नारी उदास-सी बैठी थी। स्त्री की अवस्था से जान पड़ता था कि चंचल बालपन अभी कुछ ही समय हुआ उससे विलग होकर अपना स्थान यौवन को दे गया है। उसके मुख की सौम्यता, मधुरता एवं सौन्दर्य देखकर जान पड़ता है कि वह किसी उच्च वंश की स्त्री है। उसके काले, घने, लम्बे केश बेणी-शृंगाररहित अस्तव्यस्त-से पड़े हैं। वह बीच-बीच में सिसकती भी जाती है। पुरुष ने फिर स्वर में तनिक-सी मधुरता लाने का प्रयत्न करते हुए कहा—“तुम मुझ से घृणा करती हो, क्यों? मुझे मलेच्छ कहने का आज भी साहस करती हो, क्यों? इसीलिए न कि तुम अभिजात कुल की स्त्री हो किन्तु

क्या तुम नहीं जानती भगवान् बुद्ध....”

“छी: छी: उनका नाम क्यों लेते हो...पवित्र शाक्य मुनि का नाम लेकर अपने कुकृत्यों को कब तक छुपा रखोगे....”

वह उत्तेजित हो उठी थी। क्रोध से विवश क्रोध से उसके नथुने फूल उठे थे। वह लगभग चीखने के-से स्वर में कह रही थी—“तुम्हारा सर्वनाश होगा... सर्वनाश....”

“हा ! हा ! हा ! हा !...वह सब देखा जायगा किन्तु इससे पूर्व ही तुम्हारा वंश-गर्व नाश होगा। वनस्पर का पुत्र अपमान सहन करने का अभ्यस्त नहीं है भले ही वह सुन्दरी स्त्री द्वारा ही क्यों न किया गया हो....” और वह हो हो करके हँसने लगा। स्त्री विवशता से रोने लगी। इस बार वनस्पर के पुत्र होने का अभिमान लिये दिये वह व्यक्ति फिर कहने लगा—“तुम सुन्दरी हो...नवयुवती हो...वाचालमी हो... इसी से मैं तुम पर मोहित हो गया, अन्यथा तुम्हारी भी दशा वही होती जो तुम्हारे वंशाभि-मानी परिवार के अन्य सदस्यों की हुई, जानती हो ?”

नवयुवती असहाय थी। रुदन के अतिरिक्त और उसका आश्रय ही क्या था। इसी दुर्बल क्षीण आश्रय को लिए वह चल रही थी।

उस युग के आसपास की घटना है जिसे इतिहास में बहुत काल तक अन्धकार युग माना जाता रहा। लगभग १३० या १३५ ईस्वी रही होगी। आर्यावर्त के इतिहास में से नन्दी-वंश तक लुप्त हो चुका था। कुशन शासन चल रहा था। लगभग कनिष्क के शासनकाल के तीसरे वर्ष के आसपास पद्मावती एवं मगध के क्षेत्रों में महाक्षत्रप खरपल्लाण का राज्य था। इन क्षेत्रों का क्षत्रप वनस्पर था। जिस समय की घटना है उस समय तक सम्भवतः वनस्पर भी महाक्षत्रप हो गया था। वनस्पर विदेशी था। भारतीयों की दृष्टि में मलेच्छ था किन्तु

शासक की जाते कहाँ होती है ? उसे उच्चवर्ग से घृणा थी । सम्भवतः इस घृणा की जड़ में स्वहीनत्व भावना ही प्रधान रही हो । सम्भवतः उसी के लिए “प्रजाश्च अब्राह्म-भूमिष्ठाः” कहा गया हो । वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि करने के लिए कोई भी पाप, कोई भी अत्याचार, करने से नहीं हिचकिचाता था । धर्मान्ध तो यह थे ही । ब्राह्मणों के तो विशेष रूप से शत्रु थे । सम्भवतः राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि के लिए ही इन्होंने बौद्धमत को भी स्वीकार कर लिया था । इसी उद्देश्य से यह पद्मावती मगध आदि के वासियों को अपने दमन-चक्र में पीसकर देश के अन्य भागों में शूद्र जातियों (पंचक, भद्रक, शक, पुलिन्द आदि) को बुलाकर उन्हें शासक वर्ग का सहायक बनाते थे । तिस पर भी संस्कारों के कारण भारतीय इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से ही देखते थे जो कि इन्हें शूल की भाँति चुभता था । इसी कारण यह ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था को नष्ट करने के अनेकानेक उपाय किया करते थे । वनस्पर का पोष्य-पुत्र खेत्रपल्ल भी इसी नीति का पोषक था । पद्मावती में इसी का एकछत्र साम्राज्य था । यद्यपि पिता की मृत्यु हो चुकी थी फिर भी कुशन सम्राट् कनिष्क ने इसी को क्षत्रप नियुक्त कर दिया था । अब तो इसने अपनी नीति का और भी खुले ढंग से प्रचार-कार्य आरम्भ कर दिया था । विलासी खेत्रपल्ल तो केवलमात्र ब्राह्मणों के रक्त से ही सन्तुष्ट नहीं होता था, वरन् उनकी स्त्रियों को भी अपनी अंकशायिनी बनाने का प्रयत्न किया करता था । उसकी बात सुनकर युवती ने तनिक अभिमान से उत्तर दिया—“कर देता तो मैं सुखी ही होती । नीच !”

“यह मैं जानता हूँ तब ही तो तुम्हारे प्राण नहीं लिये । सुनो, अत्यधिक अभिमानी अत्रिर्वंश की कुलवधु तुम्हारे प्राण उस समय तक इस नश्वर शरीर को नहीं त्याग सकेंगे जब तक तुम

इस मलेच्छ की अंकशायिनी नहीं हो जाती, अन्यथा तुम्हारे मतानुसार तुम्हारे स्वर्गस्थित पूर्वज अपने वंशाभिमान को धूल में मिलते किस प्रकार देख पायेंगे ? समझीं ।”

“तुम्हें यह सब कहते लज्जा नहीं आती दुष्ट ! एक निरस्त्र ब्राह्मण के निरस्त्र गंगा-स्नानार्थ जाते हुए पुत्र को सशस्त्र अश्वारोही सैनिकों द्वारा मरवाकर उसके वृद्ध विद्वान् आचारी पिता की हत्या करके उसकी असावधान पत्नी को अनेकों सबल पुरुषों द्वारा यहाँ लाकर यह सब कहना तुम्हीं जैसे नीच को शोभा देता है । हा तात ! कहाँ है आज नन्दीवंश जिसकी गौरवगाथाएँ तुम गाया करते थे... हा हन्त !” युवती रो रही थी और खेत्रपल्ल उसकी ओर देखकर उसी प्रकार मुस्करा रहा था जैसे पंजे में पड़े हुए चूहे को देख-देखकर बिल्ली प्रसन्न होती है ।

“ओह ! नन्दीवंश की आज भी स्मृति है ? ठीक ही तो है अत्रिवंश जब तक निर्मूल नहीं हो जाता तब तक कुशन साम्राज्य स्थिर नहीं हो पायेगा ।... उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक आज कुशनवंश का साम्राज्य है और रहेगा... तुम्हारा यह क्षीण रुदन तब ही तक है जब तक कि तुम मुझ से बची हुई हो ” कहकर वह फिर हो-हो करके हँस दिया ।

युवती का रोना बढ़ गया था । वह भयभीत भी हो रही थी ।

“व्याकुल न हो... मुझे तुम्हारी अधिक आवश्यकता नहीं होगी... केवल कुछ ही दिन तुम्हें यहाँ रहना होगा... तत्पश्चात् तुम्हारी इच्छा हो तो फिर घर लौट जाना... यदि सूने घर में न जाना चाहो तो मेरे महल के किसी कोने में पड़ी रहना और चाहो तो...”

युवती ने बड़ी जोर से धरती पर माथा पटक दिया । कठोर धरती पर शक्ति से माथा पटकने से सिर फूट गया । रक्त प्रवाहित होने लगा । खेत्रपल्ल ने हँसते हुए ही कहा—“इस प्रकार

मरोगी नहीं। फिर भी कल रात्रि तक के लिए छुट्टी देता हूँ तत्पश्चात् ” वह हँसने लगा। उसने प्रतिहारी को संकेत किया और दो बलिष्ठ पुरुष युवती की ओर बढ़े। उसके सिर से रक्त बह रहा था किन्तु वह चमककर दूर जा खड़ी हुई।

“मलेच्छो, मुझे मत छूना। मैं आप ही चलूँगी।”

“ओह ! यह कब तक ? यदि इस अभिमान को सर्वथा कुचल न डाला...तो मैं खेत्रपल्ल नहीं तुम्हे तुम्हे ” वह चिल्ला रहा था—“तुम्हे... कुशन के लिए सन्तान उत्पन्न करना होगा...तुम्हे मरने भी नहीं दूँगा ”

वह क्रोध से दाँत पीस रहा था। काँपती पीड़ा से अशक्त ढग-मगाती युवती उन दो बलिष्ठ पुरुषों के साथ धीरे-धीरे चली गई। खेत्रपल्ल दाँत किटकिटाता रहा।

महल के जिस प्रकोष्ठ में यह काण्ड हो रहा था उससे तनिक दूर पर एक कुशन वेशधारी मुख के एक भाग को उत्तरीपाद में छिपाये एक व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक यह सब कुछ देख रहा था। उसके भी दाँत किटकिटा जाते थे किन्तु वह शान्त भाव से अपने स्थान पर खड़ा था। केवल जिस समय युवती उसके निकट से निकली तो उसने उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखा। युवती अर्द्ध विक्षिप्त-सी रो रही थी। उसका ध्यान भी उधर नहीं था। यह देखकर उस व्यक्ति की आँखों में क्षणिक को निराशा की झलक दीख पड़ी, किन्तु वह तुरन्त ही साधारण ढंग से यथापूर्व खड़ा था। अब उसके नेत्रों में तनिक-सा रोष भी था और कुछ विचारों की गम्भीरता तथा उदासी भी। सबके चले जाने पर वह भी उसी ओर चल दिया जिधर उस युवती को ले जाया गया था।

विवशता

“यह तो अनर्थ हो गया बेटा !”

“तब ही तो मैं आपको सूचना देने तुरन्त ही चला आया महास्थविर !” उसने चिन्तापूर्ण स्वर से कहा ।

“सो तो जानता हूँ किन्तु अत्रिवंश तो वहाँ अत्यधिक श्रद्धेय ब्राह्मण वंश माना जाता है । जनता पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी ?”

“सो तो अच्छी नहीं होगी, महास्थविर ! वृद्ध अत्रि महोदय को तो पद्मावती में देवता की भाँति पूजा जाता था ।

वृद्ध महास्थविर ने नेत्र सम्पूर्ण खोलकर सन्देशवाहक की ओर देखा, फिर धीरे-धीरे कहने लगे—“एक दिन वह भिन्न होने से पूर्व की बात है वत्स...मैं और अत्रि एक ही गुरु के शिष्य थे ।” उनका स्वर गीला हो उठा । उनकी आँखें भीग गईं । कुछ देर मौन रहकर वह कहने लगे—“वह मेरा बाल-सखा था । हम में धार्मिक मतभेद तो था ही किन्तु उनका-सा गम्भीर विद्वान् समस्त उत्तरापथ भर में नहीं मिलेगा । उनकी निर्मम हत्या करके ...जान पड़ता है...नहीं...नहीं सद्धर्म की रक्षा तो करना ही होगा किन्तु यह बुरा हुआ, बहुत बुरा हुआ बुद्ध घोष, बहुत बुरा हुआ...”

बुद्ध घोष ने सान्त्वना के-से स्वर में कहा—“जनता विद्रोह नहीं कर सकती । कुशानों का प्रभाव अत्यधिक है । इनकी शक्ति, इनके सैन्यबल की भी कोई सीमा नहीं है, अतः सद्धर्म को कोई

संकट नहीं है ।”

“कौन कह सकता है ? बुद्ध घोष !”

“ऐसी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती महास्थविर ! उत्तरापथ के समस्त शासक आज कुशन साम्राज्य के पद-तले लोट रहे हैं । सिद्धार्थ की हर कहीं विजय हो रही है । यद्यपि कुछ हठी लोग अब भी पुरातन विश्वासों को पकड़े बैठे हुए हैं फिर भी उनकी नींव हिलती जा रही है, महास्थविर !”

“आधी, बवंडर, भ्रंभावात में भी जो महापुरुष अपने युगों के विश्वासों को नहीं त्याग सके उन्हीं का तो हमें विशेष भय है । किन्तु बात इतनी ही नहीं है । निर्वाण-पथ का प्रदर्शक सद्धर्म एक दिन सम्राट् अशोक द्वारा सम्मानित किया गया था, और इससे देश और देशवासियों का हित ही हुआ था । उन्होंने धर्म-विजयी होने की आकांक्षा से दशों दिशाओं में धर्म-प्रचारक भेजे... उनकी धर्म-विजय भी हुई । सम्राट् राजनीतिक सत्ता से सम्बन्ध जोड़कर सद्धर्म विश्व का कल्याण कर सकेगा, इसी कल्पना से बौद्धधर्म ने कुशनों से सम्बन्ध स्थापित किया ।”

वृद्ध महास्थविर कुछ काल को मौन हो गये ।

“और इसका परिणाम अच्छा ही हुआ । सद्धर्म की वृद्धि हुई । वर्ण-व्यवस्था को गहरा आघात पहुँचा । भारत में सद्धर्म का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया ।”

“सो तो हुआ, बुद्ध घोष ! किन्तु विदेशी शासकों ने सम्भवतः इस पवित्र धर्म को हार्दिक श्रद्धा के कारण ग्रहण नहीं किया था, किसी दिन भी नहीं किया था । उन्होंने इस सुन्दर स्वर्ण-भूमि पर पैर जमाने के लिए, इस देश के वासियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए किसी धर्म का, मत का आश्रय लेना चाहा और और .. दुर्भाग्य हम लोगों ने धर्म-प्रचार के आश्वासन से... धर्म-वृद्धि के प्रलोभन में पड़कर राष्ट्र के, राष्ट्रीय संस्कृति एवं सभ्यता के,

शत्रुओं से राजनीतिक मेल कर लिया ।”

“यह आप क्या कह रहे हैं ? महास्थविर ! उत्तर भारत में बौद्ध मतावलम्बी कुशनों के प्रभाव की वृद्धि करने वालों में सदा अग्रगामी तो आप ही रहे हैं ।”

“हाँ, मैंने ही जान-बूझकर वर्षों पूर्व धर्म-प्रचार के लिए राजाश्रय ग्रहण किया था । उदीयमान सूर्य की छाया में वास किया था किन्तु बुद्ध घोष उस समय तक भविष्य को मैं देख नहीं पाया था । मुझे दिखाई देता था केवलमात्र सद्धर्म और उसकी वृद्धि...” जान पड़ा कि महास्थविर दुःखित हो उठे ।

उन्होंने फिर कहना आरम्भ किया—“किन्तु उस दिन भी दूरदर्शी अत्रि ने कहा था और कठोर शब्दों में कहा था मुझे सुनकर कष्ट हुआ था मेरा हठ से राजाश्रय अधिकाधिक पाने को आग्रह भी बढ़ा था, किन्तु आज देखता हूँ उनकी बात ठीक ही थी ।”

“उन्होंने क्या कहा था ? महास्थविर !”

“उन्होंने उन्होंने कहा था दुःखित कण्ठस्वर से—‘भाई ! इस विशाल उदार देश के नाश का कारण कहीं बौद्धधर्म ही न हो जाय । आज तुम विदेशी शासकों को इस धर्म में दीक्षित करके भारतीय स्वतन्त्रता के मूल पर कुठाराघात कर रहे हो । एक दिन अपनी साम्राज्यवादी लोलुपता के कारण यह विदेशी शासक जन-पीड़न के कारण बनेंगे और आड़ लेंगे इस धरती में उत्पन्न हुए इस धर्म की...आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के लिए आवश्यकता है त्याग की, वैराग्य की और कष्ट-क्लेश की...बौद्ध भिक्षु साम्राज्य का आश्रय पाकर सुख-आनन्द में त्याग वैराग्य को विस्मरण कर देंगे और स्वभावतः परिणाम होगा उनकी लिप्सा की वृद्धि...भाई ! तुम उन्हें रोक न सकोगे...विश्व-ब्रह्माण्ड में कोई रोक न सकेगा...यह राजनीतिक सम्बन्ध इस देश की पवित्र भूमि पर अन्याय और अत्याचार से त्राहि-त्राहि करा देगा और...और...! उस दिन

मैंने कहा था—‘धर्मान्धता ने तुम्हारे मुख से यह सब कहलवाया है। सद्धर्म की वृद्धि तुम्हें सहा नहीं हो सकती,’ किन्तु आज देखता हूँ...” महास्थविर ने दोनों हाथों से मुख ढक लिया।

बुद्ध घोष ने धीरे-धीरे कहा—“किन्तु महास्थविर इतने अधीर क्यों होते हैं?”

महास्थविर ने सिर ऊपर उठाया। उनके नेत्रों में जल था उन्होंने विक्षिप्त व्यक्ति की भाँति चारों ओर देखकर कहा—“अधीर क्यों होता हूँ? सच ही मैं तो भिन्नु हूँ। मैं अधीर क्यों होऊँ सद्धर्म की वृद्धि किन्तु...किन्तु अत्रि की निर्ममता से हत्या की गई उसके एकमात्र पुत्र को निरस्त्र काट डाला गया उसकी साध्वी पुत्रवधु आज विलासी खेत्रपल्ल के पंजे में है। वह सद्धर्म को नहीं मानते सद्धर्म के शत्रु हैं किन्तु...किन्तु... पद्मावती में कुछेक भिन्नुओं को छोड़कर जनता में कौन ऐसा व्यक्ति है जो उनका चरण-स्पर्श कर अपने को धन्य न समझता हो। खेत्रपल्ल ने यह कैसा अनर्थ किया क्या होगा अब क्या होगा?”

“कुछ भी नहीं होगा। आज समस्त उत्तरापथ में कौन ऐसा है जो कुशन साम्राज्य के विरुद्ध सिर उठा सके। जिन्हें दैव ने वंजु नदी के तट से लेकर बंगाल की खाड़ी तक, यमुना से लेकर नर्मदा तक और पश्चिम में काश्मीर तथा पंजाब से लेकर सिंध और काठियावाड़ तक और गुजरात, सिंध तथा बिलोचिस्तान के समुद्र तक राज्य करने का अधिकार दिया है। जो स्वयं दैवपुत्र हैं जिनके पूर्वज बर्हतकीन स्वयं यह कह गये हैं उन्हीं महान् सम्राट् कनिष्क के पौत्र हुविष्क के विरुद्ध किसके दस शीश हैं जो उन्हें उठायेगा। शातवाहन की ओर से तनिक सन्देह हो भी सकता था किन्तु वह भी तो पश्चिम में शक-शक्ति से व्यर्थ में ही जूझ रहे हैं।”

“वत्स ! तुम ठीक ही कहते हो फिर भी मुझे भय हो रहा है । ओह ! उसकी निर्मम हत्या मैं बौद्ध हूँ...भिन्नु हूँ...जीवन का अधिकांश अत्यधिक अमूल्य समय मैंने संघ की वृद्धि, संघ की उन्नति में ही लगाया है फिर भी आज न जाने क्यों हृदय काँप रहा है । जान पड़ता है कहीं कोई बड़ी भारी त्रुटि रह गई है...” उनका स्वर काँप रहा था । उनके नेत्रों में भय जान पड़ता था । बुद्ध घोष ने उन्हें सान्त्वना देने की दृष्टि से कहा— “संचाराम के प्राण ! आज आप इतने कातर क्यों हो रहे हैं ? प्रभो ! भगवान् बुद्ध के लगाये इस वृत्त का कोई एक पत्ता भी तो छू नहीं सकेगा । सद्धर्म की वृद्धि होगी और आने वाली सन्तति महास्थविर का युग-युगान्तर तक उपकार मानेगी । तथागत ”

“रहने दो, सो सब रहने दो ” वृद्ध महास्थविर ने उसे रोकते हुए कहा—“इच्छा होती है कि सम्राट् हुविष्क के सम्मुख जाकर इन अत्याचारों के विरुद्ध अभियोग उपस्थित करूँ ”

“अवश्य कीजिए । सम्राट् की आप पर भारी श्रद्धा है ।”

“हाँ, सो तो है ही, किन्तु सब कुछ होते हुए भी सम्राट् का खेत्रपल्ल अधिक अपना है । रक्त देश...ओह अभी तुम जाओ, भाई ! आवश्यकता पड़ने पर बुला लूँगा । इसी बीच तुम पद्मावती का एक चक्र और लगा आओ और मुझे तीन मास के भीतर-ही-भीतर सूचनाएँ देना । कल सन्ध्या से पूर्व विहार न छोड़ना ।”

“जो आज्ञा !” श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके बुद्ध घोष प्रकोष्ठ से बाहर हो गया । काष्ठ के साधारण से आसन पर गैरिक वस्त्र-धारी वृद्ध भिन्नु संचाराम के महास्थविर एकाकी बैठे रहे । महास्थविर की आयु अस्सी को तो अवश्य ही पार कर गई होगी । उनके मुख पर इस समय चिन्ता एवं वेदना व्याप्त थी, किन्तु सौम्यता का अभाव न था । साठ वर्ष पूर्व उन्होंने इस बौद्ध-

विहार की स्थापना करवाई थी। युवावस्था में धार्मिक विश्वास की तीव्रता को लेकर जब वह नारायण शर्मा से आनन्द भिक्षु बने थे... जब स्वेच्छा से उन्होंने अपने घुँघराले काक पत्रों का क्षय करवाया था, तो कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि सारे दिन यह साधारण-सा बालक सरीखा दिखाई देने वाला भिक्षु उत्तराखण्ड की राजनीति का युगों तक संचालन करेगा। कौन जानता था कि कनिष्क की बौद्धमत प्रसारिणी नीति का प्रेरक यही युवा भिक्षु होगा, किन्तु एक दिन वही हुआ। वृद्ध आनन्द भिक्षु के नेत्रों के सम्मुख एक दृश्य घूम गया।

तब वह संघाराम के महास्थविर नहीं थे। न तो उनके हाथ में सत्ता ही थी और न उनकी चारों ओर ख्याति ही थी। वह धम्म पद का पाठ कर रहे थे सिर झुकाये... दीपक का क्षीण प्रकाश उनकी पोथी मात्र पर ही पड़ रहा था। वह ध्यानपूर्वक पदों का मन-ही-मन विवेचन कर रहे थे... अचानक उन्हें जान पड़ा कि उस स्थान पर कोई और भी है... उन्होंने घूमकर देखा तो उनके बालसखा ऋषिकेश अत्रि खड़े थे। उन्हें देखकर आनन्द भिक्षु को प्रसन्नता नहीं हुई। फिर भी उन्होंने आश्चर्य से कहा—“तुम सद्धर्म के द्वेषी इस बौद्ध विहार में कैसे? सो भी इस एकान्त स्थान पर रात्रि के द्वितीय प्रहर में एक बौद्ध भिक्षु के आवास में।” आनन्द भिक्षु के स्वर में तीखा व्यंग्य था। ऋषिकेश अत्रि ने साधारण-से स्वर में उत्तर दिया—“नारायण! एक दिन गुरु-प्रह्न में हम दोनों ने बाल्यावस्था में प्रतिज्ञा की थी कि आर्य संस्कृति...”

आनन्द भिक्षु ने विरक्ति से बात काटकर कहा—“सो सब रहने दो। मैं बौद्ध भिक्षु हूँ और सो ही रहूँगा...”

“तुम्हारे मर्मस्थल पर किस स्थान पर पीड़ा हो रही है सो मैं जानता हूँ नारायण! किन्तु किसी के अन्याय का प्रतिशोध निरीह

माँ से लोगे, यह कौन जानता था ?”

आनन्द भिन्नु ने तनिक कठोरता से कहा—“ऋषि ! तुम समर्थ हो...विद्वान्, प्रतिष्ठितान्, पूजनीय पिता की सन्तान हो तुम... उस पीड़ा को नहीं जान सकोगे...नहीं समझ सकोगे। मुझे छोड़ दो...नारायण काल-कवलित हो गया आज केवल यहाँ आनन्द भिन्नु है और उसके शरीर को छेदकर नारायण का प्रेत इस विश्व में अब किसी दिन भी दिखाई न दे सो ही आशीर्वाद इस अब्राह्मण को देते जाओ। इससे अधिक तो मैं और कुछ भी इच्छा नहीं रखता हूँ ” और उसका स्वर बुरी तरह काँप रहा था।

तनिक निकट आकर ऋषिकेश ने भिन्नु के नग्न दाहिने कंधे पर अपना बायाँ हाथ रख दिया। भिन्नु ने घृणा से हाथ हटा दिया। उसके स्वर में भीषण घृणा थी।

“तुम जाओ, ऋषिकेश ! मैं पापी हूँ...मेरी निर्दोष माता पापिन थी...मेरी निरपराध नन्हीं-सी बहन...”

“जानता हूँ भाई...तुम्हें अधिकार है किन्तु उसकी पुनरावृत्ति रहने दो...तुम लौट चलो...मैं तुम्हारे साथ हूँ...मेरा परिवार तुम्हारा परिवार है भाई ”

“हूँ...और उस दिन तुम कहाँ थे जब मेरी साध्वी माता को बरबस एक कुशन सैनिक के उठा ले जाने पर अपराधिनी ठहराया गया था... उस दिन तुम कहाँ थे जब मेरी माता के आत्महत्या कर लेने पर मेरी नन्हीं-सी बहन को कोई भी सद्गृहस्थ आश्रय देने को तत्पर नहीं हुआ था। तुम कहाँ थे उस दिन जब कि मैं तीन दिन और तीन रात विक्षिप्तों की भाँति बाट घाट भूखा-प्यासा घूमता फिरता था कहाँ था वह परिवार...तुम्हारा परिवार जिसे आज तुम मेरा परिवार कह रहे हो माना कि तुम नगर में नहीं थे किन्तु तुम्हारा परिवार तो था ही मैं...मैं जातिच्युत हूँ पापी

हूँ... मेरे लिए पद्मावती में कहीं रत्ती भर भी स्थान नहीं है... मुझे और अधिक प्रलोभन न दो... जिन्होंने मुझ पापी को शरण दी है उन्हीं के चरणों में..." और वह रो दिया था।

ऋषिकेश के नयन भी गीले हो गये थे। आन्तरिक वेदना उनके स्वर में से भर रही थी... उन्होंने धीरे-धीरे कहा—“भाई !... क्षमा ...”

“क्षमा...” वह विक्षिप्त की भाँति सशब्द कठोरता से—
हँस दिया... “क्षमा क्या मेरी निर्दोष माता की हत्या का... घाव भर सकेगी ? तुम्हारी थोथी क्षमा... मैं मानव हूँ ही कहाँ ? मैं तो प्रेत हूँ... मुझे और अधिक न छेड़ो... मैं इस वर्ण-व्यवस्था का सर्वनाश करूँगा... मैं इस पुरातन प्रथा का अन्त करूँगा... मैं नहीं लौट सकता... किसी दिन भी नहीं लौटूँगा लौट सकूँगा ही नहीं... मेरी वेदना तुम उस दिन जानोगे जिस दिन तुम्हारा सर्वनाश...” शब्द मुख से निकल चुके थे। उसने दाँतों से जिह्वा काट ली और विक्षिप्तों की भाँति वड़बड़ाने लगा—“तुम चले जाओ... मेरे दृष्टिपथ से दूर... दूर... कहीं वहाँ जहाँ मैं तुम्हें कभी भी न देख सकूँ...”

उसने धैर्य से कहा था—“तुम्हारा अभिशाप सिर-माथे पर भाई... किन्तु स्मरण रखना जाति के अपराध का दण्ड देश को न देना अन्यथा आने वाली सन्तति तुम्हें कदापि क्षमा नहीं करेगी...” और वह चला गया। मैं उसके पश्चात् चिल्ला-चिल्लाकर रो उठा था। मेरी नस-नस में प्रतिशोध की भावना तिलमिला रही थी... किन्तु अपराध उसका तो नहीं था... आज क्या मेरा ही अभिशाप फलीभूत हुआ है... महास्थविर बालकों की भाँति अस्थिर होकर रो उठे।... “भाई, ऋषिकेश ! एक दिन दूसरे के अपराध के लिए तुमने क्षमा माँगी थी और मैंने नहीं दी थी, दिया था केवल भीषण अभिशाप... आज मैं तुम्हारे निकट क्षमा-प्रार्थी हूँ... तुम

मुझे क्षमा नहीं देना...नहीं देना...मैं उसका पात्र नहीं हूँ...मैंने जाति के अपराध का दण्ड दिया जन्मभूमि को, समस्त देश को .. किन्तु कौन जानता था कि मेरा शाप.. भाई ! ” आत्मग्लानि से वृद्ध के नयनों के जल से उनका गण्डस्थल भीग गया, किन्तु अश्रुजल रुकता ही नहीं था वह विवश थे . एक दिन साधारण भिक्षु होते हुए भी वह समर्थ थे, किन्तु आज महास्थविर होते हुए भी वह विवश थे, निरुपाय थे, असमर्थ थे ।

विशालाक्षी

भूमिष्ठ होकर प्रणाम करने के पश्चात् ज्योंही उसने सिर उठाया तो दो नेत्र अँधेरे में भी खिड़की से तारों की भाँति चमकते दिखाई दे रहे थे। युवती के शरीर पर गीले वस्त्र थे। नदी से स्नान करके मन्दिर में उमा की आरती करने के पश्चात् उसने प्रणाम किया था। वह एकाकी थी, किन्तु जान पड़ता है उसे भय छू भी नहीं गया था। उसने दृष्टि उधर से हटाकर उमा की शुभ्र प्रतिमा की ओर की। उसके सुन्दर नेत्रों में हलका-सा जल था। उसने कातर दृष्टि से देवी की ओर देखकर कहा—“माँ, तुम से एक दिन अखण्ड सौभाग्य की प्रार्थना की थी, आज उसी की रक्षा के लिए भिक्षा माँगती हूँ। तुम्हें देनी ही होगी, अन्यथा जिस प्रकार नियम से आज दस वर्षों से इस द्वार पर वन्दना करती आई हूँ उसी प्रकार यहीं अपने रक्त से तुम्हें स्नान करा दूँगी।” उसने फिर प्रणाम किया और मन्दिर से धीरे-धीरे बाहर हो गई। मन्दिर एकान्त स्थान पर था। चारों ओर घना वन था। रात्रि आरम्भ हो गई थी। चारों ओर अन्धकार था। यह मन्दिर नगर के एकान्त स्थान पर था। प्रायः कोई इधर आता भी नहीं था। जान पड़ता है कि वर्षों पूर्व से इधर कोई नहीं आया है। मार्ग भी कण्टकाकीर्ण हो गया था। मन्दिर भी खण्डहर-प्रायः हो गया था। भित्तियों की ईंटें झड़ने लगी थीं। देवी का शृंगार प्रायः युगों से नहीं हुआ था। केवल देवी की शुभ्र संगमरमर की प्रतिमा चमकती रहती थी। जान पड़ता है, किसी

रमणी के कुशल हस्त प्रतिदिन देवी को स्नान कराते हैं। देवी की प्रतिमा और सिंहासन को छोड़कर अन्य सब ही स्थान धूल से भरे हैं। मन्दिर का बाह्य भाग भी गन्दा, टूटा-फूटा हो गया है। झाड़ियाँ आदि मन्दिर को चारों ओर से घेरे हुए हैं। स्थान-स्थान पर सर्प आदि का भय जान पड़ता है। सद्यस्नाता महिला धीरे-धीरे द्वार के निकट तक पहुँच गई। अन्धकार प्रगाढ़ होता जा रहा था। रमणी के पैर आगे बढ़ ही नहीं रहे थे। वह किसी प्रकार चौखट के बाहर आकर खड़ी हो गई। “सती! मेरे सौभाग्य की रक्षा करना... तुम भाल के सौभाग्य-चिह्न का मूल्य जानती हो माँ!” वह आगे बढ़ गई। मार्ग संकीर्ण होता जा रहा था। पथ पर घास-ही-घास थी... वन-पशुओं का शब्द आना आरम्भ हो गया था... किन्तु... रमणी को भय तो मानो था ही नहीं। वह निश्चित भाव से पग रखे चली जा रही थी... अचानक उसे आहट-सी जान पड़ी... वह ठिठक गई... आश्चर्य से उसने देखा कि एक मानव-मूर्ति सम्मुख खड़ी थी।

रमणी ने मधुरता से कहा—“मार्ग छोड़ो।” पुरुष ने धीरे से कहा—“यदि न छोड़ूँ तो?” रमणी ने कठोरता से कहा—“तो तुम्हें बरबस हटाना होगा।”

“देवि!...” रमणी मौन ही रही क्षणिक... तत्पश्चात् उसने मुख उठाकर उन दो नेत्रों की ओर देखा और तनिक घृणा से कहा—“तो तुम्हीं चोरों की भाँति पूजा करती हुई रमणी को मन्दिर के पार्श्व से देख रहे थे? छी: ! क्या तुम इसी भारत-भूमि के वासी हो?” रमणी के स्वर में दृढ़ता थी, तिरस्कार था और थी गम्भीर घृणा। पुरुष कुछ सहम गया। उसने फिर काँपते हुए स्वर से कहा—“विशालाक्षी! क्या तुम किसी दिन भी इस...” युवती गरज उठी—“तुम किस अधिकार से मेरा नाम ले रहे हो? तुम कौन हो?” युवती के स्वर में अधिकार की भावना भी थी।

“तुम मुझे नहीं पहचानती ? देवि !”

“इस जन्म में मेरा परिचय केवल एक ही पुरुष से है। तुम कोई भी क्यों न हो मेरा मार्ग छोड़ो।”

“आज इस प्रकार एकान्त में पाकर तुम्हें नहीं छोड़ सकूँगा। जानती हो, पिछले दस वर्षों से केवल तुम्हारी ही मूर्ति का निशि-वासर ध्यान करता रहा हूँ, देवि !”

“तुम्हारे गढ़ मंडलेश्वर आज भी जीवित हैं वह वहाँ हैं। किस अवस्था में हैं नहीं जानती फिर भी वह जीवित हैं...तब भी तुम्हारा यह साहस कैसे हुआ ? हटो मार्ग से।”

घबराकर पुरुष दो पग पीछे हट गया। रमणी गीले ही वस्त्रों में तनकर सीधी खड़ी होगई। मेघ गरजने लगे थे। विद्युत् का क्षणिक प्रकाश हुआ। रमणी का अद्भुत सौन्दर्य क्षणिक आलोक में भी उज्ज्वल होकर नेत्रों को चकाचौंध करने वाला था। उसके शरीर की आभा शुद्ध गीले वस्त्रों में से फूट-फूटकर निकल रही थी। उसकी सौम्य मुखाकृति उदास होते हुए भी अद्भुत थी। अचानक उसकी दृष्टि क्षणिक विद्युतालोक में पुरुष पर पड़ी। रमणी का कठोर स्वर अन्धकार में तड़फ़ उठा—
“छीः ! तुम भिन्न हो। तथागत के नाम को लजाने वाले तुम भिन्न हो ?”

उस समय तक बौद्ध धर्म ने विदेशी कुशन शासकों के साथ राजनीतिक समझौता कर लिया था। देश में पुरातन के भक्त भी जीवित थे, किन्तु उनकी अवस्था दयनीय थी। शासकों को किसी प्रकार भी पुरातन संस्कृति के प्रबल व्यूह में पैठने का स्थान नहीं मिल पाता था। देश में पैर जमाने के लिए यह आवश्यक था कि वह देशवासियों में किसी-न-किसी प्रकार अपना स्थान बना सकते। ब्राह्मण और उच्च वर्ण के लोगों का सम्मान अब भी शासकों से कहीं अधिक था। शासक सत्ताधारी अधिकार-बल से

जनता का दमन तो कर पाते थे, किन्तु उनका हृदय नहीं जीत पाते थे । हृदय पर विजय प्राप्त किये बिना साम्राज्य किसी प्रकार भी दृढ़ नहीं हो पायेगा, स्थिर नहीं रह पायेगा, यह शासक वर्ग भी जानता था । अतः यहाँ जम जाना आवश्यक था, किन्तु पाशविक वृत्तियों के पोषक शारीरिक बल से ही विश्व पर साम्राज्य कर पाने का स्वप्न देखने वाले कुशन केवलमात्र दमन की ही कल्पना कर सकते थे शारीरिक दण्ड अत्याचार दमन तो साधारणतया किया ही जा सकता है । किन्तु उससे सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्त्व किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा, यही कुशन शासक नहीं समझ पाते थे । बौद्ध धर्म ने किसी दिन भी समस्त जनता की श्रद्धा प्राप्त नहीं की थी । फिर भी वह शासकों का समर्थन प्राप्त करके शक्ति प्राप्त कर पाया था । जन-बल पूर्णतया प्राप्त न हुआ हो, यही नहीं जनता...जनसाधारण...अब भी उसे श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देख पाया था । अन्य पुरातन मतों का प्राबल्य था । विशेषतया शिवोपासना...अमूर्त की बिन्दू की उपासना का महत्त्व अधिक था । बौद्ध अधिकतर महायान के ही समर्थक थे, अतः शून्य के उपासक निराकार के भक्त शैव महायान मतावलम्बी बौद्धों को हेय दृष्टि से देखते थे । वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव किसी प्रकार भी न्यून नहीं हो पा रहा था । अतः शासकों के समर्थन प्राप्त करने का लोभ बौद्ध नहीं त्याग सके । अधिकांश बौद्ध मतावलम्बी वर्ण-व्यवस्था के कारण किसी-न-किसी प्रकार जातिच्युत होकर ही बौद्धमत की शरण आये थे, अतः मन-ही-मन वर्ण-व्यवस्था से अप्रसन्न भी थे । इसी से दोनों की आवश्यकताओं ने उन्हें एकत्रित कर दिया । बौद्ध धर्म ने विदेशी शासकों का आश्रय लिया और विदेशी साम्राज्यवादियों ने बौद्धों का आश्रय लिया । देश के धार्मिक वर्ग ने बौद्ध धर्म को इस अधार्मिक समझौते के कारण पहले से भी अधिक नीची दृष्टि से देखना आरम्भ कर

दिया। बौद्ध धर्म का जन्म भारत में ही हुआ था। वैदिक न होते हुए भी वह विदेशी नहीं था... इसी कारण श्रद्धा न होते हुए भी भारतवासियों ने इसे अग्राह्य नहीं किया था। सम्राट् अशोक की संरक्षकता में भारत से बाहर भी इस पवित्र धर्म का... इसके सिद्धान्तों का प्रचार हुआ और जनसाधारण ने इसे अनादर की दृष्टि से नहीं देखा, किन्तु... इस बार इस भारतीय भूमि पर जन्म पाने वाले धर्म ने विदेशियों से राजनीतिक मेल रखे... देशवासियों की राष्ट्रीय भावनाओं को ठेस पहुँचाई। पुरातन संस्कृति, आर्य सभ्यता के भक्त बौद्धमत की इस अपराधीता को क्षमा न कर सके। साधारण जनता बौद्ध भिक्षुओं को अनादर एवं उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगी।

पुरुष ने तनिक लज्जित होकर उत्तर दिया—“मैं भिक्षु हूँ किन्तु किन्तु निराशा ने, घनी हार्दिक पीड़ा ने, ही तो मुझे भिक्षु बनने को विवश किया... तुम्हें ज्ञात ही है कि मैं किसी दिन चन्द्रभाल से भी अधिक वीर माना जाता था किन्तु...”

“गढ़ मंडलेश्वर का नाम तुम्हारी अपवित्र जिह्वा पर शोभा नहीं देगा। भिक्षु... एक तुम हो जो विदेश को उत्तरोत्तर पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ने को व्याकुल हो रहे हो और एक वह हैं जो देश को पतित-पावनी माँ गंगे को... इस देवभूमि को विदेशी के पंजे से छुड़ाने के लिए प्राण हथेली पर लिये अज्ञातवास कर रहे हैं। ...छीः ! तुम...”

“कौन जानता है वह जीवन भी हैं अथवा नहीं ?” तनिक व्यंग्य से भिक्षु ने कहा।

“वह जीवन हैं, अवश्य जीवन हैं, और जीवन रहेंगे, उस समय तक जब तक यह पवित्र धरती मलेच्छों से शून्य नहीं हो जाती रे नराधम ! तू उन्हें कैसे समझ पायेगा ... नहीं समझ सकेगा नहीं समझ सकेगा चन्द्रशेखर माश्रवे

मम किं करिष्यति वै यमः.....”

अचानक रमणी ने पुरुष को धक्का दिया। पुरुष असावधान था, गिरते-गिरते बचा। रमणी विद्युत की-सी शीघ्रता से मार्ग पाकर चल दी। पुरुष ने पीछे फिरकर देखा और फिर उसी ओर दौड़ने लगा। रमणी सम्भवतः यह जानती थी...वह मुख्य मार्ग छोड़कर तनिक-सी दूरी पर ही बाईं ओर की बड़ी-बड़ी झाड़ियों के बीच में छिप गई। उसी क्षण सर से कोई सर्प रमणी के पैर से टकराता हुआ निकल गया। रमणी ने मन-ही-मन कहा—“देवादिदेव के सर्प...शृंगार...मुझे मानव से भय है, तुमसे नहीं देव ! तुम्हीं तो मेरे रक्षक हो...”

भिन्नु व्याकुलता से इधर-उधर खोजने लगा। खोजते-खोजते बहुत दूर निकल गया। इसी बीच वर्षा भी होने लगी। बीच-बीच में विद्युत-प्रकाश भी हो जाता था। एक घड़ी बीत जाने पर रमणी अपने छिपने के स्थान से निकली। इधर-उधर देखकर सावधानी से साधारण पथ छोड़कर चली जा रही थी। लगभग दो कोस चल चुकने पर एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण खण्डहर दीख पड़ा। रमणी द्वार पर खड़ी होकर काँप गई। भीतर से क्षीण कण्ठ से स्वर निकल रहा था—“विशाला !” रमणी इस समय तक सब कुछ विस्मरण कर आसन्न विपत्ति का सामना ही कर रही थी। रात्रि के दो प्रहर उसे भीगे वस्त्रों में ही व्यतीत करने पड़े थे फिर भी वह काँपती हुई भीतर की ओर चली। द्वार का ऊपरी भाग कभी का नष्ट हो चुका था। चौखट के नीचे के भाग की खुदाई देखने से जान पड़ता था कि किसी समय इस पर बहुत अधिक धन व्यय करके खुदाई कराई गई होगी। यह भी जान पड़ता था कि किसी समय यह द्वार किसी विशाल गढ़ का द्वार रहा होगा। विशाल गढ़ तो आज खण्डहर मात्र ही रह गया था किन्तु अब भी दो प्रकोष्ठ किसी प्रकार दिन व्यतीत करने योग्य थे। भारी प्रस्तर की

छत आधी गिर चुकी थी। प्रकोष्ठ का सुरक्षित भाग थोड़ा ही था किन्तु प्रकोष्ठ स्वच्छ था। धरती धो-पोंछकर स्वच्छ की गई थी। प्रकोष्ठ के मध्य में भारी बहुमूल्य पल्लंग था, किन्तु उसकी बहुमूल्य लकड़ी में भी दरिद्रता के चिह्न स्पष्ट दीख पड़ते थे। पल्लंग पर वस्त्र अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थे और उनसे भी अधिक जीर्णवस्था में एक अत्यधिक वृद्ध पुरुष उस शैया पर पड़ा क्षीण स्वर में पुकार रहा था—“विशाला...” इस स्वर ने रमणी में चेतना जाग्रत की। वह काँपते हुए पगों से पल्लंग के निकट जा खड़ी हुई। वृद्ध उसे देख नहीं पाया। सम्भवतः नेत्रों में ज्योति नहीं रह गई थी। फिर भी आहट सुनकर उसने कहा—“विशाला...!”

“पिताजी !” उसने यथासम्भव कम्पित स्वर को साधारण करके कहा।

“बेटा ! बहुत देर कर दी आज तो।”

“हो ही गई।”

“मैं तो बहुत चिन्तित हो गया था। क्या हो गया था ? बेटा !” वृद्ध ने दीन स्वर से कहा।

“एक वन्य-पशु मिल गया था। अतः मुख्य मार्ग छोड़कर आना पड़ा। उसी में तनिक देर हो गई। पिता जी ! तनिक अग्नि करके ले आऊँ। शीत अधिक हो रहा है।” उसने धीरे-धीरे कहा।

वृद्ध ने चिन्ता से कहा—“हाँ, हाँ तू भीग भी तो गई होगी। जा बेटा, वस्त्र भी परिवर्तित कर आ।”

“अच्छा !” कहकर रमणी दूसरे प्रकोष्ठ में चली गई। वहाँ भयंकर अन्धकार में उसका पैर किसी शरीर से टकरा गया।

“हाय मरी री !” कहकर एक अन्य रमणी उठकर आँखें मलती हुई बैठ गई। विशालाक्षी ने उसे धैर्य देकर दीपक जलाया।

वह स्त्री घबराकर विशालाक्षी की ओर देखने लगी। “अरे ! मुझे क्या ज्ञात था कि आप इस समय आयेंगी ?”

“इस प्रकार चिल्ला क्यों उठी ? इस स्थान पर हम तीनों के अतिरिक्त और कौन आयेगा ?”

“यह तो मैं जानती हूँ, किन्तु कोई भूत, प्रेत, चतुर नागर ”

“मर अभागिनी !” कहकर रमणी चूल्हे के निकट गई। दूसरी स्त्री भटपट उठकर चूल्हे के निकट बैठ गई। उसने विशालाक्षी को तनिक परे करके कहा—“हाय रे मेरा भाग्य ! अभी तो मुझे यमराज भी नहीं ले जा सके हैं अभी से तुम चूल्हा फूँकोगी। क्यों ?”

“भाग्य के साथ आज तक युद्ध करती रही हूँ प्रमदा ! किन्तु ”

“बस, बस, ऐसा न कहें देवि ! नहीं तो सृष्टि में प्रलय आ जायगा। जिस दिन आप निराश हो जायँगी उस दिन उत्तरापथ में हिन्दू संस्कृति के पुनरुत्थान की अन्तिम आशा-किरण सदा-सर्वदा के लिए सो जायगी, देवि ! मंडलेश्वरी !!”

“प्रमदा, निराश नहीं होती, किन्तु...” रमणी ने वेदना-भरे स्वर में कहा।

प्रमदा ने रमणी के वस्त्रों की ओर देखा। उसने तत्क्षण व्याकुलता से कहा—“यह क्या ? देवि ! आपके वस्त्र तो सारे भीगे हैं। आप तुरन्त वस्त्र परिवर्तन करें। यदि आपको कहीं कुछ हा गया तो वृद्ध गढ़ मंडलेश्वर क्या करेंगे ?”

“क्या करेंगे ? प्रमदा ! भाग्य से कहीं कोई विजय प्राप्त कर सका है। उनका युवा पुत्र आज वर्षों से अज्ञात है जो एक दिन सम्राट्-सम सशक्त एवं प्रबल थे वही आज इस वृद्धावस्था में...”

“देवि ! देवि !! आप आज कातर हो रही हैं ? मंडलेश्वर एक दिन लौटेंगे...”

“कातर नहीं होती हूँ...कातर क्यों होऊँगी।” रमणी ने कुछ स्मरण करके अत्यन्त गौरव से कहा—“कातर तो मैं हो ही नहीं सकती हूँ। तू ठीक ही कहती है प्रमदा, मैं साधारण युवती नहीं हूँ। मैं गढ़ मंडलेश्वर आर्य गिरिभाल की पुत्रवधु गढ़-स्वामी गढ़ मंडलेश्वर आर्य संस्कृति के उपासक... आर्य सभ्यता के पुनरुद्धार-कर्त्ता चन्द्रभाल की पत्नी हूँ...मेरे श्वसुर आज भी जीवित हैं उनका प्रभाव-सूर्य भले ही अस्त हो जाय, उनका गौरव आज भी अस्त नहीं हो पाया है। आज भी वह अपने समस्त महत्त्व सहित आर्य संस्कृति का पुनर्जीवन देखने के लिए जीवित हैं। मेरे स्वामी... देश के लिए, जाति के लिए, जन-रक्षण के लिए स्वेच्छा से नीलकण्ठ की भाँति कण्ठ में विष धारण किये न जाने कहाँ हैं ? मैं कातर नहीं हो सकती...प्रमदा...मैं कातर नहीं होऊँगी।” कहते-कहते विशालाक्षी का कण्ठ काँप उठा। उसने बरबस नेत्रों में उमड़ते हुए अश्रुकणों को रोका। प्रयन्न में विशालाक्षी के निचले होठ पर ऊपर के दाँतों के दवाने से रक्त झलक आया।

प्रमदा ने हाथ से उमड़े हुए अश्रु-कणों को, जो किसी प्रकार भी रुक नहीं रहे थे, नयनों में ही पोंछ डाला। उसने रुँधे कण्ठ से कहा—“अब आप जाइये। वस्त्र परिवर्तन कर लीजिए...”

सम्भवतः घर में एक ही वस्त्र और था। उसी को लेकर रमणी खण्डहर के अन्य एक भाग में वस्त्र परिवर्तन करने चली गई। प्रमदा की आँखों से अश्रुजल प्रवाहित होने लगा। उसने इस परिवार का पतन तो देखा था, किन्तु अवस्था इतनी हीन नहीं हो गई थी। गत वर्ष ही तो विशालाक्षी का पति बौद्धों द्वारा एक निरीह ब्राह्मण पर होने वाले अत्याचार को न सह सकने के कारण खड्ग मात्र से सशस्त्र उन कुशन सैनिकों के एक दल का, जो कि उन बौद्धों के पृष्ठपोषक थे, वध करके स्वयं भी अज्ञात

हा गया था । विशालाक्षी ने उससे अन्तिम बार कहा था—
“प्रियतम ! कहाँ जाओगे ?”

उसने उत्तर दिया था—“जहाँ से इन विदेशी अत्याचारियों के सर्वनाश का उपाय कर सकूँ ।”

उसने पूछा था—“और मैं क्या करूँ स्वामी ?”

“वही जो कि एक मंडलेश्वर की पत्नी के गौरव के अनुरूप हो ।”

“और पिता ?”

“विशाला ! मुझे कर्तव्यच्युत करने का प्रयत्न न करो । पिता वृद्ध हैं, किन्तु आर्य संस्कृति-हित पुत्र का बलिदान उन्हें खलेगा नहीं । उन्होंने युद्धों में अनेकों घाव खाए हैं । उनका आशीर्वाद लेकर मैं भी धर्म-युद्ध में रत होऊँगा ।”

“फिर मिलोगे ?”

“यदि भारतभूमि को मलेच्छों से मुक्त कर सका तो इसी जीवन में अन्यथा स्वर्ग में तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा रानी !”

वृद्ध पिता ने सुनकर कहा था—“खेद है कि मेरे हाथों में खड्ग उठाने की शक्ति नहीं रह गई है, नेत्रों में ज्योति भी नहीं है । पुत्र मैंने धरती पर छयानवे वर्ष व्यतीत किये हैं निरन्तर पचहत्तर वर्ष तक अनेकों युद्धों में भाग लिया है । मेरा यही आशीर्वाद है कि तुम धर्म-युद्ध में सदा रत रहो और यदि तुम काल के प्रिय हो भी जाओ तो धर्म-युद्ध में ही शरीर छोड़ो ।” वृद्ध पिता का भयंकर भीषण आशीर्वाद लेकर वह एक दिन चल दिया था । विशालाक्षी वृद्ध श्वसुर की सेवा करती रही । धीरे-धीरे सब ही आश्रित या तो मर गये अथवा छोड़कर चले गये । प्रमदा ने किसी प्रकार भी इनका साथ नहीं छोड़ा । वह यथा-सम्भव विशालाक्षी को काम-काज भी नहीं करने देती थी । प्रमदा ! किस प्रकार अन्न जुटाती है सो भी कोई नहीं जानता । स्वयं

विशालाक्षी भी नहीं पूछ पाती किन्तु यह कहती रहती है—“प्रमदा हमें भूख से मर भी जाने देना, किन्तु वही करना जो कि हमारे गौरव के अनुरूप हो।” प्रमदा कहती है—“सो क्या मैं नहीं जानती देवि !” और विशालाक्षी उसे विवश होकर हृदय से लगा लेती थी—“प्रमदा ! उन्होंने यही अन्तिम आदेश दिया था, वहन !”

“आप उसका पूरी तरह पालन कर रही हैं, देवि !” प्रमदा श्रद्धापूर्वक कहती थी। जब कभी दुःखी होकर विशालाक्षी कहती—“प्रमदा ! तू हम लोगों के पीछे क्यों कष्ट पा रही है ? तू जा किसी अन्य का आश्रय ले अथवा... प्रमदा दाँतों-तले जिह्वा दबाकर कहती—“शिव ! शिव ! क्यों पाप चढ़ाती हैं ? देवि ! आप जैसे देह-धारी देवताओं की सेवा करने से मेरे सात पुरखों का उद्धार हो जायगा। जीवित तो यह शरीर अब और कहीं नहीं जायगा। भैया मंडलेश्वर जब लौटकर आयेंगे तो प्रमदा को छोड़कर और किसे अधिकार है जो उनका पद प्रक्षालन कर सके। यह अधिकार तो मैं कदापि नहीं छोड़ूँगी।”

विशालाक्षी के नयनों में जल भर आता था। और वह धीरे-धीरे पाठ करने लगती थी—

भक्तवत्सलमर्चितं निधिमक्ष्यं हरिदम्बरम् ।

सर्वभूतपतिं परात्परम् प्रमेय मनुत्तमम् ॥

सोमवारिन भूहुतारानं सोमपानि लखाकृतिम् ।

चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

किन्तु आज की घटना के उपरान्त विशालाक्षी को किसी प्रकार शान्ति नहीं हो रही थी। रह-रहकर वह काँप उठती थी। सम्भवतः रात्रि के अन्तिम भाग में उसे ज्वर हो गया था।

नन्दी-यश-गान

“गंगा और शोणभद्र के संगम पर स्थित अद्भुत है वह नगर। वहीं उस पवित्र मंगम पर संगमरमर शुभ्र-धवल प्रस्तर का राजप्रासाद खड़ा आज भी हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। वीर !” एक अतीव रूपवती युवती जिसकी आयु पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं होगी एक आठ-दस वर्ष के बालक का हाथ पकड़े प्रासाद के प्रांगण में टहल रही है। प्रांगण से कुछ ही हटकर एक अत्यन्त सुन्दर छोटी-सी वाटिका है जिसमें एक चंचल बालिका दौड़-दौड़कर तितली पकड़ने का प्रयत्न कर रही है। बालिका का अंग-प्रत्यंग मानो साँचे में ढला हुआ है। कुन्दन की-सी कान्ति, भौरे के-से काले केश और हँसते हुए नेत्र उसकी शोभा हैं। बालिका की आयु लगभग पाँचेक वर्ष ही रही होगी। बालिका का ध्यान केवल तितली की ही ओर है। युवती और बालक का ध्यान बालिका की ओर तनिक भी नहीं है। युवती के मुख पर वीरता, दृढ़ निश्चय एवं क्रोध की लालिमा है। बालक गहरी जिज्ञासा एवं रुचि से युवती की बात सुन रहा है। युवती के पीछे-पीछे एक अत्यन्त वृद्ध अनुचर धीरे-धीरे चल रहा है। उसके शरीर की त्वचा तक लटक आई है। सिर के बाल सन की भाँति श्वेत हैं। भवों के बाल भी श्वेत हो चुके हैं। फिर भी उसमें वृद्धावस्था की निराशा तनिक भी नहीं दिखाई देती है।

बालक ने तुरन्त पूछा—“तो वहाँ कब चलेंगे ? देवि ! मैं गंगा और शोणभद्र के संगम पर देवार्चन करूँगा माँ भी चलेंगी

और आप भी चलेंगी ना ?”

“तुझ से कितनी बार कहा है वीर कि मुझे केवल पितृ-भगिनी कहा कर । न हो तो केवल पित्रा ही कहा कर । देवि ! सम्बोधन तो दिन-रात सुनती ही हूँ, भैया !”

“हाँ, पित्रा मैं पूछता था कि आप सब भी तो चलेंगे ही ?”

“अवश्य ! शंकर जब वह दिन लायेंगे । हमारा अज्ञातवास समाप्त होगा । विन्ध्यप्रदेश के यह उच्च शृंग-शिखर जब अपने शुभाशीर्वादसहित हमें भेजेंगे तब हम अवश्य जायेंगे, वीर !”

कुछ भी ठीक से न समझकर बालक पितृ-भगिनी की ओर ताकने लगा । उन्होंने घूमकर संकेत से वृद्ध को निकट बुलाया । वृद्ध तुरन्त ही समीप आ खड़ा हुआ । उन्होंने ओजपूर्ण वाणी में कहा—“शल्य ! पैंतालीस वर्ष पूर्व गंगा के पावन तट पर उस लम्बे-चौड़े भूखण्ड में जहाँ वीरता के सूर्य हमारे पितामह सदा के लिए सो गये थे, तुमने युद्ध से पूर्व कौनसा गीत गाया था सुनाओगे ?”

वृद्ध ने अत्यन्त चाव से कहा—“देवि ! नागवंश की अधिष्ठात्री देवि !! यौधेयों की कुल-स्वामिनी !!! आपको न सुनाऊँगा ? आज पैंतालीस वर्षसेजिस कण्ठ-स्वर को नागवंश की धरोहर की भाँति सँभालकर रखता रहा आज उसका प्रदर्शन करूँगा अवश्य करूँगा ।”

“शल्य ! जन्म से ही तुम्हारी गोदी में पली, खेली और बड़ी हुई हूँ । माँ के निषेध और कठोर प्रतिबन्धों में भी तुम सदा ही मुझे नागवंश के गौरव की गाथाएँ सुनाते रहे । अनेकों बार तुमने आर्य शिवनन्दी के अपूर्व शौर्य की गाथाएँ सुनाई हैं...सदैव ही मैंने लोरियों के स्थान पर आर्यपुरुष दात, उदारमना उत्तम दात, परम् पूजनीय काम दात, प्रातःस्मरणीय भव दात के गौरव-गान सुने हैं । गुरुदेव ने, माँ का विरोध होते हुए भी, यौधेय राजवंशी

कुमार के साथ मेरा विवाह किया, किन्तु वहाँ जाकर भी मैं निरन्तर गौ-ब्राह्मण का आर्त्तनाद ही सुनती रही... बाबा... शल्य बाबा... रोते, जागते, हँसते-खेलते मुझे कभी क्षण भर को भी तो चैन नहीं मिला... वहाँ चैन लेने देते थे मुझे तुम्हारे गौरव-गान... और अतीत के वैभव की नींव पर बने आज के इस अशक्त... अत्याचारों का साक्षी भवन... इसकी स्मृति...

“देवि ! तुम कुल-लक्ष्मी हो जान पड़ता है नागवंश की अधिष्ठात्री देवी ने तुम्हारे चोले में जन्म लिया है तुम सती हो, उमा हो, दुर्गा हो, चण्डी हो शिवप्रिया का अंश हो... भवानी का अंश हो गुरुदेव त्रिभुवन पंडित कहते थे कि तुम्हीं दोनों भाई-बहिन द्वारा नागवंश की लुप्त कीर्ति पुनः लौटाई जायगी... तुम्हारे ही द्वारा भारत-भूमि परतन्त्रता की पीड़ा से मुक्त होगी। देवि ! तुम प्रणम्य हो...”

“मैं यह सब नहीं जानती किन्तु कभी-कभी जान पड़ता है कि विस्तृत गगन-मण्डल में विस्तृत लालिमा मुझे कुछ सन्देश दे जाती है। मैं नहीं जानती कि वह क्या है, किन्तु इतना आभास तो अवश्य मिलता है कि कहीं मेरा कोई एक कर्तव्य है और उसकी पूर्ति किये बिना मैं किसी प्रकार भी शान्त नहीं हो सकूँगी मर भी नहीं सकूँगी बाबा किसी प्रकार भी नहीं... सुदूइसरन गिरि-शृंगों पर पर्वत-शृंखलाओं में उनके तल-भाग में सर्वत्र मुझे दीख पड़ता है केवल एकमात्र ताण्डव नृत्य... दिखाई देती है महाकाल रुद्र की भयंकर मूर्ति और चारों ओर होने वाला भीषण संहार केवल संहार... माँ काली स्वयं दुष्टों का दलन करने में संलग्न दिखाई देती है बाबा... उत्तरापथ में हो आई हूँ और वहाँ देख आई हूँ अपने इन्हीं चर्म-चक्षुओं से सत्ताधारी द्वारा पोषित बौद्धों के द्वारा निरीह पुरातन संस्कृति के भक्त आर्यों पर अनेकानेक अत्याचार बाबा युग परिवर्तित हो गया... कुशनों

के हाथ में पड़कर बौद्ध धर्म ने अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता नष्ट कर दी है, अब तो वह एक राजनीतिक साधन मात्र ही रह गया है। हे शंकर ! कब तक यह पवित्र धरती...पतित-पावनी गंगा इन तुम्हारे द्वारा पद-दलित होती रहेगी ?”

“अधिक देर नहीं है देवि ! त्रिशूलपाणि के तीसरे नेत्र के उन्मीलन मात्र का विलम्ब है...देवि ! अर्द्ध शती पूर्व का सम्राट् शिवनन्दी का ऋण आज आपके भाई सम्राट् नवनन्दी को चुकाना ही होगा। गुरुदेव त्रिभुवन पंडित तो उस समय बालक ही थे, किन्तु शल्य ने युद्धभूमि में इन्हीं हाथों में अस्त्र-शस्त्र लेकर शिवनन्दी के साथ-साथ मलेच्छों का सामना किया था और फिर त्रिलोचन पंडित के आदेशानुसार बालक विराट नन्दी और नन्हें त्रिभुवन पंडित को गोद में लेकर सुदूर पर्वतों से घिरे इस मध्य प्रदेश में आश्रय-स्थान भी खोज लिया था। शल्य इसी विश्व में नब्बे वर्ष व्यतीत कर चुका है। आज भी उसका कण्ठ-स्वर जीवित है। किसी की प्रतीक्षा में आज भी उसके हाथों में शक्ति है खड्ग धारण करने की। आज त्रिलोचन पंडित नहीं हैं, किन्तु जो भार वह शल्य के दुर्बल कंधों पर रख गये हैं वह तो जीवित है...उसे उतारे बिना शल्य को यमराज भी ले जा नहीं सकेंगे त्रिलोचन पंडित के आदेशमात्र का ही विलम्ब है...धरती अवश्य ही मलेच्छों से शून्य होगी।”

नन्हा बालक बड़ी देर से इन दोनों की ओजपूर्ण बातचीत सुन रहा था। उसे इनकी बातों में रस आ रहा था। अचानक उसने अपने नन्हें से खड्ग पर हाथ रखकर कहा—“बाबा ! मैं भी तुम्हारे साथ जाकर अत्याचारी मलेच्छों का संहार करूँगा ”

आनन्दातिरेक से नागराज नवनन्दी की भगिनी यौधेयों की कुलवधु आर्या नवदेवी ने नन्हें-से भ्रातृ-पुत्र को हृदय से लगा लिया। उसके मुख से शब्द नहीं निकल रहे थे। बड़ी

कठिनाई से उसने कहा—“अवश्य करोगे, वीरसेन ! यदि यह क्षीण आशा भी मन में न होती तो नाग-पुत्री नवदेवी उत्तरा-खण्ड से लौटकर पितृ-गृह में न आती वहीं माँ गंगा की गोद में सदा-सर्वदा के लिए सो जाती ।” स्वर ऊँचा हो रहा था । बालिका ने अन्तिम बातें सुनी थीं । इसी समय उसका ध्यान इनकी ओर आकर्षित हुआ । वह तितली की क्रीड़ा छोड़कर इनके निकट आ गई । आते ही उसने कोमलता से बालक का हाथ पकड़कर कहा—“और मैं इनकी सहायता करूँगी पित्रा !”

“अवश्य !” कहकर नवदेवी के नयनों में जल भर आया । उन्होंने बालिका की, चंचल बालिका की ओर अत्यधिक गम्भीरता से देखकर कहा—“अनन्ता ! आज की यह बात यावज्जीवन स्मरण रखना होगा ।” बालिका कुछ भी न समझ सकी । तुरन्त ही नवदेवी ने बालक को लक्ष्य करके कहा—“वीरसेन ! अब तुम जाओ, अनन्ता के साथ कुछ काल तक खेलो । मैं तब तक बाबा से गीत सुनूँगी ।”

बालक ने दृढ़तापूर्वक कहा—“पित्रा ! मैं भी आर्य शिव-नन्दी का गीत सुनूँगा । नन्दी-यश-गान मुझे अत्यन्त रुचिकर है । बाबा मुझे तुम्हारे पीछे भी सुनाया करते थे । आज क्यों न सुनूँ ?”

सादर वृद्ध की ओर देखकर नवदेवी ने कहा—“बाबा ! समस्त आर्यावर्त तुम्हारा और त्रिलोचन पंडित का चिर-ऋणी रहेगा और नागवंश तो रहेगा ही ।”

“देवि ! क्या यह ऋण है ? यह तो केवलमात्र ऋण-शोध ही है ।”

बालक उत्सुकता से वृद्ध की ओर देख रहा था । बालिका को खेलने का प्रस्ताव अत्यन्त भला लगा था, किन्तु बालक की दृढ़ता देखकर बालिका तनिक सहम-सी गई । उसने बालक के मुख की

ओर देखा । वहाँ दृढ़ निश्चय था । उसने बालक का हाथ दृढ़ता से पकड़ लिया, किन्तु वह अपने स्थान से तनिक भी नहीं हटा । अतः बालिका को भी कहना पड़ा—“तब बाबा ! गाओ ना । कुमार तो बिना सुने यहाँ से टलेंगे ही नहीं ।” बालिका के कहने के ढंग पर सब ही हँस दिये । पित्रा ने बालिका की ओर प्रेम-भरी दृष्टि से देखकर वेदना-भरे स्वर में शल्य से कहा—“बाबा ! उत्तरा-पथ के सशक्त प्रजातन्त्र आज पथ के भिखारी मात्र ही रह गये हैं, अन्यथा सशक्त कुण्डों को, जिनके नाममात्र से शक्राज तक काँप उठते थे उन्हीं कुण्डों के प्रजातन्त्र की सुगठित व्यवस्था के प्राण गिरीश प्रणव की एकमात्र सन्तान को दूसरों के आश्रय में न आना पड़ता । हे भूतपति ! तुम्हारी क्या इच्छा है ? उत्तरा-पथ के समस्त आर्यों की एकमात्र आशा नागवंश इस प्रकार पर्वतीय प्रदेश में अज्ञातवास में समय व्यतीत कर रहा है और प्रायः सभी सशक्त प्रजातन्त्र आज मलेच्छों के अत्याचारों से दीन होकर उसे ही चारों ओर से घेरे बैठे हैं ।” बालिका कुछ भी न समझकर बालक की ओर देखने लगी । नवदेवी ने फिर कहा—“बाबा ! शल्य !! स्मरण है वह दिवस जब यह नन्हीं-सी गुड़िया दो वर्ष पूर्व अनाथा के रूप में आश्रय लेने एक विश्वासपात्र सेवक के साथ इस परिवार में आई थी । सेवक तो मुझ से आश्वासन पाकर परम धाम को सिन्धार गया, किन्तु मेरे हृदय में हा-हाकार छोड़ गया । सोचती हूँ कि यह क्या होगया, क्या आर्य निस्तेज हो गये, अराक्त हो गये, क्या उत्तरापथ में किसी के बाहुओं में बल नहीं है जो कि कन्या, गौ, ब्राह्मण की रक्षा कर सके अभिजात वंश क्या इसी प्रकार एक-एक करके निर्मूल कर दिये जायँगे ? यही संहार-काल नहीं है ? भगवान् शंकर क्या नागवंश को यह कार्य नहीं सौंपेंगे ?”

“अवश्य सौंपेंगे । नाग, मालव, यौधेय और कुण्ड आज

भी सशक्त हैं यद्यपि वह बिखर गये हैं फिर भी उनका संगठन करना होगा। विजय निश्चय ही शिव-सेवकों, शिव-भक्तों की होगी, देवि ! अन्याय अधिक दिन तक नहीं चल सकेगा।”

“तब सुनाओ नन्दी-यश-गान, बाबा ! शंकर तुम्हारे कण्ठ में प्रलय-गीत...संहारक-गान भर दें, यही मेरी एकमात्र इच्छा है।”

“सो ही होगा, देवि ! सो ही होगा । यदि भगवान् शंकर को यह इष्ट न होता तो वह इस नश्वर देह को इस समय तक टिकाये नहीं रखते।”

सब शान्त हो गये । नवदेवी वृद्ध के मुख की ओर देखने लगीं । वृद्ध ने धीरे-धीरे गुनगुनाना आरम्भ किया । स्वर बढ़ता जा रहा था । जान पड़ता था कि स्वरों में प्रलय की-सी भंकार है...मृत्यु के आवाहन का संगीत है...नवदेवी और बालक वीरसेन पुलकायमान गात से गीत सुन रहे थे । गीत के एक-एक शब्द में भीषण अग्नि थी...ज्योति थी युद्ध का निमन्त्रण था । मलेच्छों के अत्याचारों से आरम्भ करके नन्दीवंश का गौरव-गान किया गया था । नन्दीवंश के महत्त्व, कर्तव्य एवं कार्य-कलापों के पश्चात् आवाहन था युद्ध में सम्मिलित होने का...कौन मलेच्छों के अत्याचारों से धरती को मुक्ति दिलायेगा ? कौन माता के बन्धन काटेगा...कौन गंगा की पवित्रता की रक्षा करेगा कौन शिव-वाहन नन्दी की रक्षा करेगा...कौन देश की अबलाओं की रक्षा करेगा ?...तुम...देश के वीरो तुम्हीं तो करोगे नागवंश की ध्वजा फहरा रही है...उस वंश का ताड़ के वृक्ष जैसा उच्च गौरव तुम्हें आमन्त्रित करता है...स्वयं शम्भू के नाग फण फैलाए जिसकी रक्षा में तत्पर हैं उसी नागवंश की ध्वजा-तले आज तुम्हारा निमन्त्रण है...आओ मलेच्छों का संहार करो...निर्बल को सुखी करो दीन की रक्षा करो तुम शिव के भक्त हो...शिव का कार्य सम्पन्न करो ” गाने का

स्वर धीमा पड़ रहा था। पीछे से सुन पड़ा—“शल्य ! ऐसा मधुर गान तो युगों से नहीं सुन पड़ा था। भाई !” सबने घूमकर देखा तो सौम्य दीर्घकाय गुरुदेव त्रिभुवन पंडित शुभ्र वस्त्रों में खड़े अवाक् गान के प्रभाव का सर्वांग से अनुभव करते जान पड़े।

चण्डी बनूंगी

रात्रि का दूसरा प्रहर होगा। भयंकर वर्षा, आँधी, बवंडर में कभी-कभी विद्युत की हलकी-सी प्रकाश-रेखा में एक ठिगने-से शरीर का व्यक्ति राजमार्ग पर लुकता-छिपता शीघ्रता से चला जा रहा था। उसके चलने के ढंग से जान पड़ता है कि वह अत्यन्त व्यग्र है। राजपथ सर्वथा जनशून्य है। कभी-कभी- किसी प्रासाद से हँसी की हलकी-सी ध्वनि सुन पड़ती है, किन्तु वह भी वर्षा की कठिनता में खो जाती है। पथिक का ध्यान किसी ओर नहीं है। वह एकाग्र भाव से चलता जा रहा है। लगभग आधी घड़ी इसी प्रकार चलते हुए वह नगर-क्षेत्र के राजप्रासाद के ठीक पीछे पहुँच गया। उसके वस्त्रों से वर्षा की धाराओं की भाँति ही धाराएँ बह रही थीं। वर्षा का वेग भी बढ़ रहा था। जनशून्य-वीथिका की भयंकरता भी बढ़ती जा रही थी, किन्तु पथिक ने एक अत्यधिक नीचे गन्दे-से द्वार पर खटका किया। भीतर से कुछ भी उत्तर नहीं मिला। पथिक ने तनिक शब्द से कहा—“मेरी रानी ! मेरी रूपा !” तत्पश्चात् द्वार कुछ अधिक शब्द से खटकाया। तनिक-से शब्द के पश्चात् इस बार द्वार खुल गया। पथिक आद्योपान्त वस्त्रों में निहित था। युवती जो कि द्वार खोलकर बाहर की ओर भाँक रही थी, हाथ में एक नन्हा-सा दीपक थामे हुए थी। अचानक उसके हाथ का दीपक तीव्र वायु के झोंके से बुझ गया। फिर भी उसने साहस से कहा—“कौन ?” उत्तर में पथिक ने उसका हाथ पकड़कर तनिक-सा दबा दिया। दोनों भीतर आ गये। भीतर से द्वार की

अर्गला लगाली गई। युवती ने दीपक फिर से जला लिया। तनिक अधीरता से युवती पुरुष की ओर देखकर बोली—“इस नर्क में कब तक रहना होगा?” ध्यान से देखने पर जान पड़ा कि युवती निरी बालिका ही है। पुरुष ने तनिक हँसकर कहा—“महादेव की इच्छा, शुभा ! तू इतनी निराश न हो। दैव का कार्य सम्पन्न हुआ ही चाहता है। अत्याचारों की सीमा हो गई है। अब अधिक समय नहीं है, मुझे इसी समय जाना होगा। तेरी सहायता की आवश्यकता है।”

“मेरे प्राण देने पर भी यदि तुम्हारा कार्य सिद्ध हो सके तो मैं सुखी ही होऊँगी।”

“कार्य अत्यन्त कठिन है इस बार, शुभा !”

“क्या इस नर्क में रहने से भी अधिक ? साक्षात् नर्कपुरी है। पर वह बात जाने दो। क्या आज के समाचार दूँ ?”

“इस समय नहीं... राजप्रासाद का समाचार मुझे मिल गया है। तुम्हारी सूचना के अनुसार दुष्ट खेत्रपल्ल के शरीर-रक्तों के दल में किसी प्रकार पिछली पंक्ति के सैनिकों में मिलकर उस अन्यायी का अनर्थ अत्याचार भी देख आया हूँ। देवी की अवस्था कैसी है ?”

“किसी प्रकार भी मैं देवी तक नहीं पहुँच पाई। सन्देश भी नहीं भिजवा सकी। वहाँ केवल मलेच्छों का ही पहरा है।”

“क्या देवी अपने प्रकोष्ठ में अकेली ही रखी गई हैं ?”

“हाँ, वह तो अकेली ही हैं, किन्तु चारों ओर कठिन पहरा रात्रि-दिवस रहता है।”

“तुम मुझे कहीं दूर से वह स्थान दिखा सकती हो ?” तनिक विचार करते हुए उसने कहा।

“दिखा सकूँगी, किन्तु उससे क्या लाभ होगा ? अरे ! तुम तो एकबारगी निचुड़ रहे हो। यहाँ वस्त्र...”

बात काटकर पुरुष ने शीघ्रता से कहा—“यह सब बातें अभी रहने दो शुभा...मुझे शीघ्र ही देवी का स्थान दूर से ही दिखादो। शंखचूड़ आज गुरुदेव को दक्षिणास्वरूप प्राण भी देने पड़े तो देगा।”

“तब चलो, और कुछ नहीं कहूँगी। भगवान् शंकर तुम्हारे सहायक हों...” कहते-कहते युवती का गला भर आया, किन्तु उसने साहस से मार्ग की ओर संकेत किया।

शंखचूड़ ने धीरे से कहा—“दीपक यहीं छोड़ दो। अन्धकार में—इस घनघोर वर्षा में—कोई देख भी नहीं पायेगा।”

“यहीं तो।” कहा शुभा ने और मन-ही-मन शिव-शिव जपने लगी। शंखचूड़ ने धीरे से एक बार कहा—सम्भवतः स्वगत ही, अपने को ही आश्वासन देने के लिए “चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः” युवती आगे-आगे चल रही थी। उसका मन किसी अज्ञात भय से थर-थर काँप रहा था, किन्तु वह जानती थी कि शंखचूड़ को भय दिखाकर कोई भी उसके दृढ़ निश्चय से डिगा सके ऐसा समर्थ विश्व में नहीं है। उसकी स्मृति में वह दिन कौंध गया जब कि अग्नि को साक्षी कर माँ उमा का आशीर्वाद मस्तक पर धारण कर उसने शंखचूड़ को प्राप्त किया था। उस दिन कौन जानता था कि इस लघुकाय दुबले-पतले ब्राह्मण बालक के भीतर इतना साहस है। आज वही दुबला-पतला छोटी-सी काया लिए ब्राह्मण बालक मलेच्छराज को विध्वस्त करने के लिए प्रयत्नशील है। उसकी जीवन-सहचरी को उसके कार्य में सहयोग देना ही है। माँ गौरी का नाम लेकर उसने एक दिन गुप्तचरी के कार्य के लिए इस नर्कपुरी में दासो बनकर प्रवेश किया था। तब से और आज कई मास परचात् पर्यन्त वह समय-समय पर यही कहती है, भगवान् शंकर के निकट “गोरा-पार्वती के निकट कि हे देव मुझे मेरे सारे ही पाप, दोष और अपराधों की क्षमा तुम्हीं देनी ही होगी,

क्योंकि मैं अपने स्वामी की आज्ञानुसार ही तो ब्राह्मणी होते हुए भी नीच-कर्मा दासी बनी हुई हूँ। उसके स्वामी कहते हैं कि यही तो उनका यथार्थ कर्म है... अत्याचारों के भार से दबी हुई धरती आर्त्त स्वर से चिल्ला रही है। यदि आज शंकर के भक्त अपने निजी मानापमान का ध्यान करेंगे तो भू-भार कौन हलका करेगा। वह प्रश्न नहीं करती, जिज्ञासा नहीं करती, विवाद नहीं करती, करती है केवल आज्ञा का पालन... तब क्या माँ गौरी उसके प्रियतम की रक्षा स्वयं ही न करेंगी... चुपचाप कुछ दूर चलकर उसने संकेत से एक स्थान दिखाकर कहा—“उत्तर खण्ड में कोण में जहाँ एक दासी खड्ग सम्मुख रखे ऊँच रही होगी वहीं देवी है। सावधानी से काम लेना।”

“शंकर सहायता करेंगे शुभा!” कहकर उसने धीरे से एक बार शुभा का दाहिना हाथ तनिक-सा दबाकर छोड़ दिया और फिर तीव्र गति से उस ओर चल दिया। शुभा के नेत्रों की झड़ी थमती ही न थी। मार्ग तक दिखाई देना कठिन था। भीतर और बाहर दोनों ही ओर झड़ी लगी थी। शंखचूड़ मुख्य द्वार की ओर नहीं गया। पिछले द्वार पर एक प्रहरी वर्षा में ही घूम-घूमकर पहरा दे रहा था। शंखचूड़ भवन की भित्ति की ओट लेकर तनिक छिप गया। जैसे ही प्रहरी ने उधर से पीठ फेरी इसने खड्ग की मूठ से उसके सिर पर आघात किया। प्रहरी चीखकर गिर पड़ा। वर्षा के शब्द में प्रहरी की चीख का स्वर डूब गया। विद्युत्-गति से शंखचूड़ ने प्रहरी के हाथ-पैर बाँधकर उसे कुछ सुँघाया और फिर घसीटकर एक ओर डाल दिया। मार्ग कुछ वैसा अपरिचित नहीं था। फिर भी शंखचूड़ अत्यन्त सावधानी से लुकता-छिपता ही चल रहा था। कुछ दूर जाने पर उसने धीरे से तीन बार भीत पर खड़-खड़ की। तुरन्त ही अन्धकार में से एक तनिक लम्बा पुरुष निकलकर सम्मुख आ गया।

“रौरव !” एक ने कहा ।

“नर्क !” दूसरे ने धीमे स्वर में उत्तर दिया ।

“सब ठीक है ।”

“शंकर दया करेंगे ।” दोनों प्रथक् मार्गों पर चल दिये । शंखचूड़ उत्तर की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा था । तंग से गलियारे में एक विदेशी सशक्त स्त्री पहरा दे रही थी । शंखचूड़ ने पीछे से जाकर असावधान स्त्री के मुख और गले को इस प्रकार वस्त्र डालकर दबा दिया कि वह चिल्ला भी न सकी । कुछ शब्द हुआ भी होगा तो वर्षा के घनघोर शब्द में सुन भी नहीं पड़ा । वस्त्रों में से सावधानी से कोई तरल पदार्थ, जो कि एक पात्र में था, शंखचूड़ ने निकालकर कठिन लौह-शृंखला पर डाल दिया । शृंखला धीरे-धीरे पिघलकर कुछेक क्षण में नष्ट हो गई । शंखचूड़ सावधानी से भीतर गया । भीतर घोर अन्धकार था । क्षणिक को चमकने वाली विद्युत् में शंखचूड़ ने लोम-हर्षण दृश्य देखा । पूजनीय गुरुदेव अत्रि की पुत्रवधू दुर्बलता की अधिकता से पृथ्वी पर अचेतावस्था में पड़ी है । वह सुन चुका था कि ब्राह्मणी ने आठ दिन से किसी प्रकार भी मलेच्छों का अन्न तो क्या जल तक भी ग्रहण नहीं किया । अवधि आज रात्रि भर की—कल तो कल तो बरबस उसे मलेच्छराज की अंकशायिनी बनना ही होगा । शंखचूड़ ने धीरे से एक अन्य बन्द पात्र को खोलकर उसमें से रस की दो-चार बूँदें अन्धकार में ही टटोलकर रमणी के मुख में डालीं । रमणी तनिक-सी देर में क्षीण स्वर में कह उठी—“मुझे उनके पास जाने दो, वह मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं दुष्टराज !...” शंखचूड़ ने धीमे स्वर में रमणी के कान के पास मुख रखकर कहा—“शंकर, शिव, शम्भू, त्रिशूलपाणि, महादेव, त्रिलोचन, रुद्र ”

युवती कुछ सँभल गई । सम्भवतः उसे चेत हो आया—

“ओह ! इस नर्कपुरी में कौन भगवान् शंकर का पवित्र नाम सुना रहा है ?”

“देवि ! मैं हूँ शंखचूड़ ।” फुसफुसाहट के-से स्वर में उसने कहा :

“बेटा ! तू ”

“माँ ! गुरु-पुत्रवधु ”

“बेटा, क्या होगा ?” उनके आँसू बहने लगे ।

“सावधान हो । चलो, इस नर्कपुरी से निकल चलें । शंकर-भवानी रक्षा करेंगे ।”

“कैसे होगा ? वत्स !” कहकर वह उठी, किन्तु तुरन्त अचेत होकर गिर पड़ी । शंखचूड़ ने उस दुर्बल क्षीण काया को गठरी की भाँति बाँधकर पीठ पर लाद लिया ।

ग्लानि से उसका मन भर गया उसने सोचा—“मैं आज इन्हें चोरों की तरह चुराकर भाग रहा हूँ ।” फिर तुरन्त ही उसने मन-ही-मन कहा—“चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखर रक्षमाम् !”

थोड़ी दूर पर ही दूसरा पुरुष फिर मिला ?

“कार्य हुआ ?”

“हाँ ।”

“कहाँ है ?”

“यहाँ,” कहकर शंखचूड़ ने पीठ पर लादी हुई गठरी की ओर संकेत कर दिया । दूसरे पुरुष ने झुककर प्रथम के कान में कहा—“दक्षिण द्वार पर अश्व उपस्थित है । प्रातः द्वार खुलते सर्व-प्रथम ही निकल जाना । सीधे मध्य प्रदेश की ओर जाना । यदि कहीं मार्ग में ठहरना ही पड़े तो गढ़मण्डलेश्वर चन्द्रभाल के अतिरिक्त अन्य किसी के भी आवास पर न ठहरना । शंकर भला करेंगे । हाँ, कल सन्ध्या से पूर्व दो सौ कोस निकल जाना, अन्यथा कल्याण नहीं है ।”

“अच्छा !” कहकर शंखचूड़ कुछ आगे चला । दूसरे पुरुष

ने फिर उसके पीछे जाकर कहा—“उनकी चिन्ता न करना।”

शंखचूड़ ने गहरा निश्वास लेकर कहा—“उनकी चिन्ता स्वयं गौरा-पार्वती करेंगी, और तुम तो हो ही। अब तो कल्याण तब ही होगा जब कि यह कह देगी ‘चण्डी बनूँगी’ ठीक है ना?”

“कहेंगी, अवश्य कहेंगी और बनेंगी चण्डी, अवश्य बनेंगी। वहाँ जाकर अग्नि प्रज्वलित कर देना भाई!”

“यही होगा।” शंखचूड़ किसी प्रकार राजप्रासाद से बाहर आया। किन्तु इसी बीच उसे दो नर-संहार और करने पड़े। छोटे नीचे द्वार के निकट घनघोर वर्षा में भीगती शुभा खड़ी थी।

“दो घड़ी तुम इसी प्रकार खड़ी रहीं शुभा!” शंखचूड़ ने सस्नेह कहा।

“तुम सकुशल लौट आये? और देवी?” कुछ आश्चर्य और कुछ अविश्वास से उसने कहा। उसके नयनों में हर्ष था।

“तुम्हारा हृदय मेरे साथ था शुभा।”

“अब कब मिलोगे?” शुभा ने वेदनामिश्रित स्वर में पूछा।

“शीघ्र नहीं।”

“सो मैं जानती हूँ। देवी को विश्राम दोगे?”

“नहीं, समय नहीं है, जय शंकर!” शंखचूड़ ने इस बार घने अन्धकार में फिर एक बार शुभा का हाथ दबाकर छोड़ दिया। शुभा के नेत्र बरस ही रहे थे। वर्षा का वेग बढ़ता ही जा रहा था। शंखचूड़ की गति इस बार और भी अधिक तीव्र थी। किन्तु इस बार पीठ पर भारी बोझ होते हुए भी वह प्रसन्न था। उसने गुरु-ऋण उतार दिया था। अब उसे मृत्यु से भी भय नहीं था। उसे प्रातःकाल ही खेत्रपल्ल की निराशा और होने वाली भुँभलाहट की कल्पना करके हँसी आ गई। वह हँस दिया। उसे अब किसी बात की चिन्ता नहीं थी। सुदूर दक्षिण दिशा के

द्वार पर पहुँचकर उसने वस्त्रों में से एक छोटी-सी मुरली निकालकर बजाई। अन्धकार में से तुरन्त ही दो व्यक्ति एक अश्व लिये हुए आकर उपस्थित हो गये।

“रौरव !”

“नर्क !” उन्होंने उत्तर दिया। शंखचूड़ अपने बोझ को अश्व की पीठ पर रखकर स्वयं भी उस पर बैठ गया। अन्य दोनों व्यक्तियों में से एक-एक अन्य अश्व पर सवार हो गया। चुपचाप दोनों नगर-द्वार के खुलने की प्रतीक्षा करने लगे। नगर-द्वार के निकट अनेक अन्य व्यापारी आदि प्रतीक्षा में खड़े थे। प्रत्येक का प्रयत्न यही था कि वह सबसे पहले निकल सके। यह दोनों अत्यन्त सावधानी से एक ओर अन्य लोगों से प्रथक् किन्तु ऐसे स्थान पर खड़े थे जहाँ से जाने में असुविधा न हो। दोनों मौन थे, किन्तु दोनों के मुख प्रसन्न थे। देवी और कोई नहीं हमारी पूर्व-परिचिता खेत्रपल्ल द्वारा सताई हुई युवती ही थी।

राजतिलक

मध्य प्रदेश के सुरम्य पर्वतीय प्रदेशों में एक सुकुमार बालक जिसकी अवस्था बारह वर्ष से अधिक नहीं होगी, एक सात-आठ वर्ष की बालिका के साथ चला जा रहा है। दोनों छोटे-छोटे अश्वों पर सवार हैं। बालक के सुन्दर काकपक्ष शिरस्त्राण से ढके हैं किन्तु बालिका शिरस्त्राण धारण नहीं किये है। उसके केश खुले हैं तथा वायु में लहरा रहे हैं। बालिका अत्यन्त चंचल है। उसका अश्व भी उस-सरीखा ही चंचल है। बालक गम्भीर है। सम्भवतः अवस्था से अधिक गम्भीरता ने उसके मुख पर बड़प्पन की छाप लगा दी है। बालक कभी-कभी बालिका की ओर ऐसी दृष्टि से देखता है मानो वह एक सरंचक हो और बालिका का ध्यान रखना ही उसका कर्तव्य हो। किन्तु बालिका उसे साथी से अधिक कुछ भी नहीं समझ पाती है। बालक ने बालिका से कहा—“अनन्ता ! अब हमें बायीं ओर मुड़ना होगा। तनिक सावधानी से चलो।” बालक के स्वर में अभिभावक की-सी स्नेहपूर्ण आज्ञा की ध्वनि थी। बालिका अकारण ही हँस दी। उसकी धवल दन्त-पंक्ति उसके सौन्दर्य को द्विगुणित करने लगी। उसने कहा—“वीर अरे अरे कुमार ! सावधानी से चलने का अधिकार तो भगवान् शंकर ने केवलमात्र तुम्हारे ही ललाट में लिख दिया है तो मैं क्या करूँ ?” उसने ऐसा विवशता का मुख बनाया कि गम्भीर कुमार वीरसेन भी हँस दिये।

“सो नहीं कहता हूँ अनन्ता ! देख तेरा अश्व भी तो अत्यन्त

चंचल है किन्तु मुझे भय तो मानो छू ही नहीं गया है।”

“कुमार ! कहते क्या हो ? भय और सो भी अनन्ता को ? पित्रा कहती थी कि अनन्ता एक दिन भारत की साम्राज्ञी होगी । क्या भारत की साम्राज्ञी को किसी भी अवस्था में भय होना चाहिए ?”

“साम्राज्ञी होने का अर्थ भी जानती है, अनन्ता ! यूँ ही जो चाहा कह दिया ।” कुमार ने उसे चिढ़ाने के भाव से कहा किन्तु अनन्ता कुछ लजा गई । “धुत !” कहकर उसने अपना अश्व बायीं ओर मोड़ लिया । मार्ग संकीर्ण था अतः कुमार को आगे-आगे चलना चाहिए था और वह चाहते भी यही थे, किन्तु चंचला अनन्ता ने अपना अश्व आगे कर लिया । गम्भीर बालक कुमार वीरसेन अनन्ता के पीछे चलने लगे ।

“अनन्ता ! अनुचर आदि न जाने कितने पीछे रह गये हैं तनिक उनकी प्रतीक्षा करलें तो ठीक हो ।”

बालिका की इच्छा ठहरने की नहीं थी । उसने दृढ़ निश्चय से कहा—“नहीं, प्रतीक्षा करना होगा तो शिव-मन्दिर में ही जाकर करेंगे । वह लोग स्वयं आजायेंगे ।”

“किन्तु हमें न देख पाने पर चिन्तित तो अवश्य ही होंगे ।”

“यदि होते हैं तो होने दो, हम तो पर्वत-शिखर पर मन्दिर में जाकर ही ठहरेंगे ।” मार्ग अत्यधिक संकीर्ण था । एक ओर गहरी ढाल थी और दूसरी ओर कठिन पर्वत । चढ़ाई पर घना जंगल था । इसी को पार करके पर्वत-शिखर पर यह पहुँचना चाहते थे । सूर्योदय में तनिक-सा ही विलम्ब था । बालिका अश्व दौड़ाती हुई जा रही थी । वायु में लहराते हुए उसके सुन्दर केशों की सुगन्धि कभी-कभी पीछे आने वाले अश्वारोही को तनिक-सा छू भर जाती थी । मलय समीर के चंचल भोंके उसके केशों को और भी अधिक चंचल कर रहे थे । अचानक चंचल बालिका के ठीक सिर

के ऊपर पर्वत पर एक वन्य-पशु दिखाई दिया। क्षणिक में ही सिंहराज बालिका के ठीक सम्मुख संकीर्ण-पथ पर कूद पड़े। चंचला बालिका दूसरी ओर देख रही थी। भारी-भरकम पशु के, ठीक अपने ही सामने, छलाँग लगाते ही बालिका चौंक पड़ी। कुमार वीरसेन पीछे थे। दाहिनी ओर तनिक भी स्थान न था और बायीं ओर से निकलने पर गहरे खड्ड में गिरने का भय था। सोचने-विचारने का समय क्षण भर भी तो न था। कुमार ने प्रत्युत्पन्न मति से अपने अश्व की पीठ पर खड़े होकर अनन्ता के अश्व पर छलाँग मारी। इससे पूर्व कि सिंह बालिका अनन्ता के अश्व पर झपटे कुमार का नग्न खड्ग वायु में लहराता हुआ सिंह-राज की प्रतीक्षा करने लगा। कुमार बालिका के आगे उसी अश्व पर जम गये और बालिका कुमार के पीछे अश्व पर खड़ी हो गई। अब तक वह भी सँभल चुकी थी। सिंह ने आक्रमण किया ही था कि सधा हुआ अश्व अगले पैर तनिक-से उठाकर आगे बढ़ा। कुमार का खड्ग पूरी शक्ति से सिंहराज की गर्दन पर पड़ा। घायल सिंह तड़फ उठा। इसी समय एक साथ ही कुमार के खड्ग का दूसरा हाथ सिंहराज की गर्दन पर पड़ा तथा अनन्ता की फेंकी हुई कृपाण सिंहराज के मस्तिष्क में जा घुसी। सिंहराज विवश होकर गिर पड़े। अनन्ता कुमार के कंधों से चिपकी खड़ी थी। कुमार के मस्तिष्क पर स्वेदकण उदय होते सूर्य के प्रकाश में उज्ज्वल मुक्ता-मणियों की भाँति प्रकाशमान थे। अश्व भी ठहर गया था और संकीर्ण मार्ग के ठीक बीचोंबीच सिंहराज का भीषण कलेवर पड़ा हुआ था। अनन्ता अचानक आक्रमण की प्रथम तीव्रता को तो सँभाल गई, किन्तु तनिक घबरा तो गई ही थी। उसने काँपते स्वर में कुमार के दोनों कंधों से चिपकते हुए कहा—
“कुमार !” कुमार भी अचानक इस अत्यधिक श्रम से तनिक थक तो गये ही थे। उन्होंने घूमकर अनन्ता के सिर को अपने बायें कंधे

पर दबा लिया और अत्यन्त स्नेह से सान्त्वना देने के-से भाव से कहा—“अनन्ता !” तथा धीरे-धीरे उसके वायु में लहराते हुए केश एकत्रित कर सहलाने लगा। अनन्ता ने तनिक काँपते हुए स्वर से कहा—“कुमार ! सिंह तुम पर झपटा था। तुम्हें कहीं चोट तो नहीं आई ?” अभी तक कुमार का ध्यान उधर नहीं था, किन्तु अब उसे जान पड़ा कि उसकी दाहिनी टाँग में वेदना है। उसने झुककर तनिक दृष्टि डाली तो रक्त बाहर तक वस्त्रादिक भेदकर बह रहा था। सम्भवतः खरोच लग गई थी। अश्व के भी थोड़ी चोट लगी थी। कुमार ने अनन्ता का सिर वैसे ही सहलाते हुए कहा—“अनन्ता ! अधिक चोट नहीं लगी। तू ने तो ऐसे समय से कृपाण फेंकी। देख तो अभी तक किस स्नेह से सिंहराज उसे मस्तक पर धारण किये हुए हैं।”

अनन्ता अब तक सँभल गई थी फिर भी वह कुमार की गोदी में ही थी। कुमार उसे सान्त्वना दे रहे थे। इसी समय सामने से एक दीर्घकाय मानव-मूर्ति आती दिखाई दी। उन्हें देखते ही कुमार वीरसेन और अनन्ता दोनों ही अश्व से कूद पड़े। पहले कुमार ने और फिर अनन्ता ने मृत सिंह की देह के ऊपर से दूसरी ओर जाकर गुरुदेव को चरण स्पर्श करके प्रणाम किया।

गुरुदेव ने आश्चर्य से पूछा—“यह मृत सिंह यहाँ कैसे ? कसकी कृपाण इसके सिर में घुसी हुई है ? मेरे बच्चो ! क्या तुमने इसे मारा है ?”

“गुरुदेव, यह कृपाण अनन्ता ने सिंह पर छोड़ी थी।” प्रशंसात्मक दृष्टि से अनन्ता की ओर देखकर कहा, कुमार वीरसेन ने। “और कुमार ने खड्ग से सिंह के प्राण ही ले लिये, गुरुदेव ! सिंह ने मुझ पर आक्रमण किया था। कुमार न होते तो मैं आज जीवित न दिखाई देती।” अनन्ता ने कहकर गुरुदेव की ओर देखा। उसकी चंचल दृष्टि कुमार और गुरुदेव के बीच घूम रही

थी। अब उसका चित्त स्थिर हो चुका था।

“देखता हूँ नागरवंश का भविष्य उज्ज्वल है। इस वंश के केवल भवनन्दी ने बारह वर्ष की आयु में सिंह को मारा था। वीरसेन! आर्यावर्त की आशाओं के तुम्हीं केन्द्र होगे। शंकर तुम्हें इस पीड़ित देश के उद्धार करने की शक्ति दे। चन्द्रशेखर के भार-वाहक बनकर तुम इस देश से मलेच्छों का महत्त्व नष्ट कर सको। पतित-पावनी भागीरथी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है वीर! अनन्ता, कृण्दिों की कुमारी शिव के कार्य के निमित्त तुम सदा-सर्वदा कुमार वीरसेन की प्रेरिका हो, यही मेरा आशीर्वाद है।”

मृत सिंह की देह से रक्त-प्रवाह तो तनिक-तनिक-सा हो ही रहा था। गुरुदेव त्रिभुवन पंडित ने दाहिने हस्त की अँगुली से तनिक-सा रक्त लेकर कुमार वीरसेन के मस्तिष्क पर तिलक किया और उसकी तनिक-सी छींट अनन्ता के मस्तिष्क पर भी छोड़ दी। कुमार वीरसेन ने न जाने किस भाव से तुरन्त झुककर गुरुदेव के चरण छु लिये। देखादेखी अनन्ता ने भी चरण-स्पर्श करना चाहा। गुरुदेव ने उसे बीच ही में रोककर कहा—“शक्ति! माँ दुर्गे !! भगवती !!! भवानी सन्तान को केवल आशीर्वाद ही दो।” तत्पश्चात् कुमार को सम्बोधन करके कहने लगे—“वीर! कुमार! आज सिंहराज—शक्ति के वाहन—के रक्त से मैंने तुम्हारा अभिषेक किया है। मस्तिष्क पर शक्ति के वाहन का पवित्र रक्तभार धारण किये जब तुम भरतखण्ड के सम्राट् बनोगे तब गंगातट पर अश्वमेध यज्ञ करके ही इसके स्थान पर शिव की कृपा से अवमृथ स्नानार्थ पवित्र जल छिड़कवाना। अन्यथा यही जीवनपर्यन्त तुम्हारे मस्तिष्क पर बना रहे।”

कुमार ने फिर से गुरुदेव का चरण-स्पर्श किया। गुरुदेव के शुभ्र मुख की कान्ति सूर्य के प्रकाश में और भी अधिक बढ़ गई थी।

गुप्त मन्त्रणा

मन्दिर छोटा-सा ही था। बाहर से देखने में बिलकुल गोल जान पड़ता था। किन्तु वस्तुतः उसके बाह्य भाग अनेक पार्श्वों से मुक्त गोलाकार बने थे। इसके ऊपर स्वर्ण-शिखर था जिसमें अनेकों मुक्तामणियाँ जड़ी हुई थीं। मन्दिर का शिखर बहुत दूर से चमकता दिखाई देता था। मन्दिर के ऊपर एक ध्वजा फहरा रही थी जिसका रंग जोगिया था और जिस पर ताड़ का वृक्ष बना हुआ था। ध्वजा के दूसरी ओर माँ भागीरथी अपने सिंहासन पर बैठी हुई चित्रित की गई थी और नागराज सिंहासन के तल-भाग से उठकर ऊपर तक गये थे जहाँ उनकी फणि छत्र की भाँति माँ गंगा के मस्तक पर फैली थी। गंगा के दाहिने कर में जलपूर्ण घट दिखाई देता था। शिखर के भीतर प्रस्तर निर्मित प्रकोष्ठ था। प्रकोष्ठ के बीचों-बीच शिवलिंग अपने सम्पूर्ण उपकरणों-सहित स्थापित था। ऊपर ढँगे हुए स्वर्ण-घट से शिवलिंग पर जल टपक रहा था। शिवलिंग के पार्श्व भाग में गैरिक वस्त्र धारण किये एक छोटे-से शरीर वाला युवक संन्यासी बैठा था। उसके मुख से शंकर-स्तुति भर रही थी। वह अत्यन्त भक्त से मीठे स्वर से गायन कर रहा था—

विश्वसृष्टि विधायिनं पुनरेव पालन तत्परम् ।
 संहरन्तमपि प्रपञ्चम शेष लोक निवासिनम् ॥
 क्रीडयन्त महर्निशं गणनाथ यूथ समन्वितम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

मृत्यु भीतमृकंड सुनुकृतस्तवं शिव सन्निधौ ।

यम कुम च यः पठेन्न हि तस्य मृत्यु भयं भवेत् ॥

पूर्ण मायुर रोगिता माखिलार्थ सम्पद मादरम् ।

चन्द्रशेखर एव तस्य ददाति मुक्ति मयत्नतः ॥

अधिक स्थान न होने पर भी प्रकोष्ठ में छः बलिष्ठ दीर्घकाय व्यक्ति हाथ जोड़े भक्ति-मंत्र से खड़े स्तुति में योग दे रहे थे । स्तुति समाप्त होते ही एक ने गैरिक वस्त्रधारी से पूछा—“कब ?”

“रात्रि के तृतीय प्रहर में ।”

“निश्चित ?”

“निश्चित । देवी भी दर्शन देंगी ।”

“यही ?”

“नहीं, यहाँ न हो सकेगा । यह स्थान उतना सुरक्षित नहीं है ।” धीरे से उसने उनके कान के पास मुख ले जाकर कहा—

“गर्भगृह में ।”

“ठीक !” आरती होने लगी । धीरे-धीरे आरती समाप्त होने पर सब ही लोग चलने लगे, केवल वही व्यक्ति जिसने सबसे प्रश्न किया था रुका रहा । सबके चले जाने पर उसने द्वार बन्द कर लिया । तत्पश्चात् वह और गैरिक वस्त्रधारी दोनों ने आसन ग्रहण किया । दीर्घकाय योद्धा सरीखे दिखाई देने वाले व्यक्ति ने पहले प्रश्न किया ।

“शंखचूड़ ! यह क्या कर रहे हो ?”

“वही जो उचित है चन्द्रभाल ! तुम एकाकी मर सकोगे, किन्तु इससे देश का क्या लाभ होगा ?”

“किन्तु सब ही प्रजातन्त्र एकत्रित हो सकेंगे ?”

“अवश्य होंगे, चन्द्रभाल ! नन्दी-गोत्रीय नागवंशी रक्त आज भी कहीं जीवित है । उसे खोजकर अज्ञातवास से निकालना होगा । वही मालव, यौधेय, कुणिन्द आदि प्रजातन्त्रों का नेतृत्व

लेकर देश के दुर्भाग्य का अन्त करेगा। आज माँ काली रक्त की, शत्रुओं, मलेच्छों के रक्त की, प्यासी है, उसकी पिपासा शान्त करनी ही होगी। भले ही हमें क्षणिक धक्का लगे भले ही हमें व्यक्तिगत जातीय अभिमान त्यागना पड़े फिर भी हम संगठित होंगे... आज का-सा अपमान और कभी हो सकेगा क्या? विदेशी मलेच्छ शत्रुओं के पद-तले पड़े रहने से तो आर्य संस्कृति के रक्षक की पद-धूलि का चुम्बन करना भी श्रेयस्कर है।”

“तुम ठीक कहते हो, शंखचूड़ ! प्राण देकर भी यदि...”

“प्राण नहीं भाई ! प्राण तो एक-न-एक दिन देने ही पड़ेंगे। नश्वर देह का दान कोई अधिक महत्त्व नहीं रखता है। माँ तो तुम से माँगती है इससे कहीं कठिन बलिदान। तुम्हारा वंशाभिमान... तुम्हारी मिथ्या परम्परागत बड़प्पन की भावना चन्द्रभाल... उसका बलिदान कर सकोगे ?”

“कर सकेंगे भाई ! देवी की आज्ञा होने पर सब ही कुछ कर सकेंगे।” फिर भी चन्द्रभाल के जाने के लक्षण नहीं दिखाई दिये। शंखचूड़ मन-ही-मन मुस्कराया। धीरे-धीरे उसने कहा—“क्या सुनना चाहते हो सो मैं जानता हूँ भाई ! किन्तु जिन्हें एक दिन देश के... धर्म के लिए त्याग दिया आज उनके विषय में जानने की उत्सुकता भी क्यों ?”

चन्द्रभाल के भाल पर वेदनाजन्य एक सिकुड़न आ गई। उसने एक दीर्घ निश्वास लेकर कहा—“मैं मानव ही तो हूँ शंखचूड़ !”

“जब देश विपत्ति में हो तो मानव मानव रह ही कहाँ जाता है वीर ? पर सुनो, सब कुशलपूर्वक हैं। तुम्हारा सन्देश सुनकर देवी विशालाक्षी हँसकर बोली थीं ‘मेरा मण्डलेश्वर तब ही घर लौटेगा जब माँ गंगा की पवित्र धाराएँ स्वेच्छा से आर्य संस्कृति के किसी रक्षक को अवमृथ स्नान के लिए जलदान करेंगी। उससे पूर्व घर लौट आने वाला मेरा पति कैसे हो सकता है। मैं

तो वही कर रही हूँ जो कि भालवंश की वधु के लिए उचित है।' अब भी जाओगे?"

"नहीं, नहीं जाऊँगा। शंखचूड़! कदापि नहीं जाऊँगा। विशाला किस धातु की बनी हुई है सो मैं जानता हूँ, किन्तु सम्भवतः अब इस जन्म में भेंट नहीं होगी।"

"निराश न हो, चन्द्रभाल! शंकर हमें अवश्य विजयी करेंगे।"

"निराश नहीं होता, भाई! किन्तु...पर वह बात जाने दो..." कुछ समय दोनों ही मूक बैठे रहे। तत्पश्चात् चन्द्रभाल ने ही कहा—“अच्छा तो चलता हूँ। शंखचूड़! समय पर पहुँच जाऊँगा।"

"ठीक, और विजयसेन को भी पक्का करके लेते आना।"

"प्रयत्न करूँगा।"

"नहीं, नहीं प्रश्न प्रयत्न का नहीं है। विजयसेन को तो दीक्षित करना ही होगा। उनके सहयोग के अतिरिक्त अन्य उपाय ही क्या है? और वह तुम्हारा मित्र है, अतः यह कार्य तुम ही कर सकोगे।"

"जननी-जन्मभूमि के कार्य के लिए प्राण दे सकता हूँ भाई, किन्तु राजनीति की नींव व्यक्तिगत मित्रता पर नहीं रखी जा सकती।"

"भाई चन्द्रभाल! तुम भालवंश के गौरव हो, तुम्हें इस दुर्दिन में भी राजनीति सिखानी नहीं पड़ेगी। आज देश की दुरावस्था ही हमारे सम्मुख नाच रही है। हमें किसी भी प्रकार से साम-दाम-दण्ड-भेद द्वारा शत्रु को परास्त करना ही है।"

"जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि विजयसेन का कुशन-राजदरबार में अत्यधिक मान-सम्मान है। यद्यपि यह भी सत्य है कि वह मन-ही-मन कुशनों से अत्यधिक घृणा करता है। और

इधर वर्षों से तो हमारी भेंट भी नहीं हुई। यद्यपि किसी दिन वह मेरा सुहृदय, अभिन्न हृदय मित्र अवश्य रहा था किन्तु वह दिन और थे, शंखचूड़ ! वह तो हमारे भी वैभव के दिन थे। आज गढ़मण्डलेश्वर नहीं...कुमार पादीय नहीं...आज तो वह सम्भवतः चन्द्रभाल को पहचान भी न सके।”

“किसी दिन वह तुम्हारा स्नेही मित्र रहा है, इसी आधार पर उसे पहचानवाना होगा। आज वह यही है तुम्हें किसी-न-किसी प्रकार उसे अपने पक्ष में करना ही होगा।”

“शंखचूड़ ! जो व्यक्ति केवल व्यक्तिगत सुरक्षा एवं सम्मान के लिए माँ...जन्मभूमि से मुख मोड़ सकता है, मैं किसी प्रकार भी उस नराधम को मित्र कहकर सम्बोधित नहीं कर सकूँगा।”

“चन्द्रभाल ! विश्व में प्राण देने वाले वीरों का अभाव नहीं है। प्राण देने का, दे सकने का महत्त्व भी नगण्य नहीं है, किन्तु हृदय पर प्रस्तर-शिला धारण करके, तिल-तिल करके, निरन्तर अग्नि में जलते रहने वालों का महत्त्व उससे भी अधिक है। मैं तुम्हारी पीड़ा समझता हूँ और यह भी समझता हूँ कि अपने बाल्य-सखा को कुशान महाक्षत्रप के सम्मुख सिर झुकाते देखकर तुम्हें कैसी विकट वेदना हुई होगी फिर भी तुम्हें उसे उचित-अनुचित का ज्ञान देना होगा। उसका पथ-प्रदर्शन करना होगा। जानते हो उत्तर-पश्चिम में कुशान राज्य का आधार केवलमात्र विजयसेन ही है।”

“अच्छा करूँगा, किन्तु आज नहीं ला सकूँगा।”

“अच्छा सो ही सही।” चन्द्रभाल उत्तर सुनकर मन्दिर के बाहर चला गया। तनिक-सी दूर पर पत्तों से छाई हुई एक साधारण-सी भोंपड़ी के सामने पहुँचकर उसने विचित्र-सा शब्द किया। तुरन्त ही द्वार पर एक तनिक विचित्र-सी काली बालिका दौड़ती हुई आई। उसके हाथ में बाँस का धनुष-बाण था। वह

चन्द्रभाल को देखते ही उससे लिपट गई ।

“तुम चले क्यों जाते हो ? मैं अकेली रह जाती हूँ, और फिर जी ही नहीं लगता ।” बालिका की अवस्था सात-आठ वर्ष से अधिक नहीं थी । रंग काला होने पर भी उसके मुख की बनावट सुन्दर थी । वह कहती ही गई ।

“बाबा भी कहते थे कि चण्ड ...”

“अरी, अब रहने भी दे । यह तो पूछती नहीं कि भोजन लाऊँ...व्यर्थ की बातें करती है ।” और उसने बालिका को गोद में उठा लिया । बालिका ने अपना नन्हा-सा सिर उसके विशाल कन्धे पर रख दिया ।

“चलो, अब भोजन कर लें ।” कहकर चन्द्रभाल भीतर की ओर चले । आज उनका मन अत्यधिक उदास था । रह-रहकर अपने वृद्ध पिता और किसी रमणी के दो नील कमल सरीखे नयनों का ध्यान आ जाता था । वर्षों पूर्व जिस कलिका को छोड़ा था वह अब कैसा पुष्प होगा ? इस विचारमात्र ने चन्द्रभाल के हृदय को वेदना से भर दिया । बालिका की ओर उसका ध्यान नहीं था । किन्तु नन्हीं-सी बालिका ने माता की-सी ममता से उसके गाल पर हाथ फेरकर पूछा—“तुम उदास क्यों हो आज, चण्ड ?” चन्द्रभाल ने बालिका की ओर देखा । उसके नयनों में वात्सल्य था, ममता थी । चन्द्रभाल के नेत्रों में तनिक-सा खारी जल भर आया । दिन भर घनी उदासी, बेचैनी और व्याकुलता में व्यतीत कर चन्द्रभाल शीघ्रता से रात्रि की प्रतीक्षा करने लगा । कृष्णपक्ष की घनी अन्धकारमयी रात्रि के कुछ पल बीत जाने पर वह धीरे-धीरे उठा । बालिका सो रही थी । उसका वृद्ध पिता भी दिन भर के श्रम से थककर सो रहा था । चन्द्रभाल चुपचाप उठकर मन्दिर की ओर चल दिया । मन्दिर निकट ही था, किन्तु मन्दिर के पीछे काले प्रस्तर की एक भीषण नाग-प्रतिमा थी

जिसके निकट एक संन्यासी गैरिक वस्त्र पहने खड़ा था। उसके मुख से कभी-कभी 'जय शिव' निकल जाता था। चन्द्रभाल ने उसके निकट जाकर कहा—“सब आ गये ? शंख !” और स्नेह से उसके कंधे पर हाथ धर दिया।

“अधिकांश आ गये हैं, तनिक ठहरो। मालव को लेकर हम भी भीतर चलेंगे।” दोनों कुछ क्षण मौन रहे। धीरे-धीरे सावधानी से आते हुए अश्व की टापें दोनों को स्पष्ट सुन पड़ने लगीं। तनिक देर बाद चार अश्व-सवार निकट आकर पृथ्वी की ओर देखने लगे। इन पर दृष्टि पड़ते ही उनमें से एक ने जो रंग-ढंग से उनका जान पड़ता था, उनके निकट आकर धीरे से कहा—“जय शिव !”

शंखचूड़ ने कहा—“कल्याण हो !” चन्द्रभाल अधीर होकर आगन्तुक के हृदय से लग गया। आगन्तुक ने स्नेह से शीश सूँघकर उसे आशीर्वाद दिया। उसने अपने साथियों में से एक को निकट बुलाकर कहा—“तुम पूर्व दिशा में कुछ दूर प्रतीक्षा करना।”

“आवश्यकता पड़ने पर...” अनुचर कुछ पूछ रहा था, किन्तु उन्होंने बीच में ही रोककर कहा—“वैसी आवश्यकता नहीं पड़ेगी, किन्तु यदि मलेच्छ विघ्नकारी आ जायँ तो भवानी का श्रृंगार अवश्य करना। मैं यहाँ पूजा करूँगा।”

“जो आज्ञा, प्रभो !” कहकर तीनों अनुचर चले गये। अब उसने मुड़कर चन्द्रभाल एवं शंखचूड़ से कहा—“अब विलम्ब क्यों ? चलें ?”

“अवश्य” कहकर शंखचूड़ नाग के पास पहुँचा। तीनों ने मिलकर जिस शिला पर नाग की स्थापना की गई थी उसे तनिक खिसकाया। नीचे गहराई-सी जान पड़ी। एक-एक करके तीनों नीचे उतर गये। नीचे से खिसकाकर शिला फिर यथा-स्थान कर दी गई। लगभग दो सौ सीढ़ियाँ उतर जाने पर एक

लम्बा गलियारा मिला। तीनों मौन चले जा रहे थे। अब मालव ने कहा—“चन्द्र ! वृद्ध हो गया। युवावस्था की-सी शक्ति नहीं रही, किन्तु आर्य शिवदात नन्दी का विलक्षण रणकौशल आज भी स्मृति में स्पष्ट है। तुम्हारा तो तब जन्म भी नहीं हुआ था, किन्तु तुम्हारे पिता यदि आज जीवित हों तो उन्हें उसकी स्मृति होगी। वह भी कितनी अद्भुत वीरता से लड़े थे। किन्तु...”

प्रकाश की क्षीण रेखा आने लगी थी। अब ये तीनों एक लम्बे-चौड़े स्थान पर पहुँचे। प्रकोष्ठ बहुत बड़ा था। उत्तर में एक श्वेत प्रस्तर-सिंहासन पर अष्टभुजा काली की कराल मूर्ति काले प्रस्तर की बनी हुई थी। उनका एक पैर शिव पर था और हाथ में नरमुण्ड था। सिंहवाहिनी प्रलयकारिणी-सी दिखाई देती थी। ऊँचे सिंहासन एवं वेदी के नीचे एक अत्यन्त सुन्दरी अल्प-वयस्का नारी गौरिक वस्त्र धारण किये बैठी थी। उसके लम्बे केश खुले थे और नयनों में उदासी, गहरी उदासी थी। कुछ हटकर प्रतिमा के ठीक सामने दस पुरुष, जो कि देखने से योद्धा जान पड़ते हैं, चुपचाप खड़े प्रतिमा की ओर देख रहे हैं।

शंखचूड़ ने पहुँचकर सर्वप्रथम काली को प्रणाम किया और फिर युवती के निकट जाकर धीरे से कहा—“माँ !” युवती चौंककर उठ खड़ी हुई। सबकी ओर बारी-बारी से देखकर युवती ने कहा—“माँ होकर भी सन्तान को कैसा भीषण आशीर्वाद देती हूँ... कि तुम सब संहारक शिव की भाँति संहार करो...”

शंखचूड़ ने उत्तर दिया—“माँ !” वही तुम्हारे अनुरूप है।” तत्पश्चात् उसने कहा—“माँ ! आज तुम्हारे सम्मुख देश के महा-प्राण, देश के आधार उपस्थित हैं, आदेश करो, माँ !”

तत्पश्चात् उसी ने आगे बढ़कर अन्तिम आगन्तुक की ओर संकेत करके कहा—“माँ ! उत्तर भारत के अत्यन्त प्राचीन और गौरवशाली मालव वंश के वंशज वयोवृद्ध महाराज कीर्तिप्रभु

आपके सम्मुख हैं। उन्होंने सम्राट् शिवनन्दो के पार्श्व में अनेकानेक युद्ध किये। अन्तिम युद्ध में भी यह उनके साथ थे।”

“वृद्ध के श्वेत केश दीपक के क्षीण प्रकाश में चमक रहे थे। उन्होंने केवल प्रणाम किया। फिर शंखचूड़ ने एक अन्य अर्द्ध विक्षिप्त-से पुरुष की ओर संकेत करके कहा—“यह यौधेयों जैसे शक्तिशाली प्रजातन्त्रीय राजवंश के वंशधर हैं। आज इस दुर्दिन में भी कुँवर कान्तिदत्त की वीरता से मलेच्छराज तक परिचित हैं।” उस व्यक्ति ने भी प्रणाम किया।

तीसरे व्यक्ति के शरीर पर अनेकों घावों के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। उनका उत्तरीय भी जीर्ण-शीर्ण-सा ही-सा था।

“परम् पवित्र, परम् शुद्ध कुणीन्द वंश के एकमात्र वंशज अनन्त देव...इनकी एकमात्र द्विवर्षीया भगिनी को मलेच्छ इनके जीर्ण-शीर्ण खण्डहर से चार-पाँच वर्ष पूर्व उठा ले गये थे। वह आज तक भी अज्ञात है। तब से इनके भीतर प्रलयाग्नि भड़क रही है।” ध्यान से देखने पर उस व्यक्ति की आयु बीस-बाईस से अधिक नहीं जान पड़ी, किन्तु वेदना से उसका गात पीला पड़ रहा था।

पाँचवें और छठे योद्धाओं की आवृत्ति एक-सी थी। शंखचूड़ ने उनकी ओर देखकर कहा—“यह अश्विनीकुमार सरीखे वत्स वंश के युवक हैं। जान पड़ता है विधाता ने इनकी छाती में हृदय के स्थान पर भर दिया है केवलमात्र देश-प्रेम माँस-पिण्ड के स्थान पर...हृत्पिण्ड के स्थान पर रख दिया है अग्नि-पिण्ड। कुमारों ! प्रणाम करो, राजवत्स, श्रीवत्स।”

सातवें और आठवें व्यक्ति काले रंग के नाटे-से शरीर के थे। शंखचूड़ ने उनका परिचय देते हुए कहा—“माँ ! यह मल्ल और भील वंश के शासक हैं। इनकी जाति आज भी किसी की पर-तन्त्रता स्वीकार नहीं कर पाई है। यह धन्य हैं माँ ! माँ को प्रणाम

करिये गल्ल जी, शूर जी ।” दोनों ने प्रणाम किया । शेष दोनों का परिचय दिया वृद्ध महाराज कीर्तिप्रभु ने ।

“माँ ! वृद्ध हो गया । सत्तासी वर्ष की आयु में भी असि धारण करने की शक्ति तो है, किन्तु सम्भवतः वह शौर्य आज न रहा हो जो पचास वर्ष पूर्व तक था...आर्य शिवनन्दी की अनार्य रीति से की गई हत्या...हो, वह युद्ध नहीं था हत्या थी, उसका प्रतिशोध लेना ही होगा । यह वृद्ध हाथ स्यात् उतना श्रम न कर पाये इसी से इन दो बच्चों को भी सेवा में भेज दिया था । यह बालक हैं किन्तु आर्य भवनन्दी ने भी तेरह वर्ष की अवस्था में सैन्य-संचालन किया था । अतः आज्ञा हो ।” सबकी दृष्टि बालिकाओं की भाँति सुकुमार दिखाई देने वाले दोनों कुमारों पर पड़ी । दोनों के खड़े होने के ढंग में गौरव कूट-कूटकर भरा हुआ था । उन्होंने भी प्रणाम किया । चन्द्रभाल पूर्व-परिचित थे । तत्पश्चात् काली की आरती हुई । माँ के नेत्रों से विचित्र ज्योति निकल रही थी । उन्होंने धीरे-धीरे कहना आरम्भ किया, किन्तु ऊँचा स्वर होता गया—“मेरे पुत्रो ! तुम्हारे जीवित रहते तुम्हारी माँ का, अत्रिवंश की वधु का भयंकर अपमान किया गया । कब तक तुम पवित्र माँ भागीरथी की सन्तान पर मलेच्छों के अत्याचार सहन करोगे ? माना कि हमारे पास उतना सैन्य-बल नहीं है, किन्तु मनोबल तो है । पैशाचिक बल का सामना क्या आध्यात्मिक बल नहीं कर सके...उनकी साम्राज्य-लिप्सा क्या तुम्हारी निस्वार्थ शिव-सेवा के सम्मुख ठहर सकेगी ? धरती मलेच्छों के अन्याय-अत्याचार से हा-हाकार कर उठी है । तुम पुरुष होकर, शिव के गण होकर भी पृथ्वी की रक्षा नहीं करोगे ? आज मैं तुम्हारे प्राणों की भिन्ना तुम से ही माँगती हूँ...नहीं...प्राणों की भिन्ना तुम्हारे लिए क्रीड़ामात्र ही है मैं तुम्हारे इहलोक के सब ही सुखों की भिन्ना माँगती हूँ ...” कहते-कहते माँ का सर्वांग काँपने लगा । नेत्रों से अग्नि-स्फुलिंग छुटने लगे । उनके सिर का पल्ला

नीचे गिर गया और वह साक्षात् चण्डी के समान भयंकर दिखाई देने लगी। सबने साष्टांग दण्डवत् की। धीरे-धीरे सब ही शिव-स्तुति करने लगे।

कुछ काल पश्चात् चेत आने पर माँ ने फिर से तनिक दुर्बल कण्ठ से कहा—“आओ, आज काली के सम्मुख मुझे भिक्षा दो। अपने देश को भिक्षा दो। पवित्र अत्रिवंश तुम्हारा चिर-ऋणी रहेगा। समस्त भारत खण्ड इन्हीं इने-गिने वीरों का चिर-ऋणी रहेगा। यदि विजय प्राप्त हुई तो देश के इतिहास में इनका नाम स्वर्ण-अक्षरों में लिखा जायगा। अन्यथा स्वर्ग में तो स्थान मिलेगा ही।”

सर्वप्रथम शंखचूड़ ने काली की वेदी के निकट जाकर वहाँ रखा मन्त्रयूत खड्ग उठाकर वयोवृद्ध कीर्तिप्रभु के हाथ में दिया। वृद्ध कीर्तिप्रभु देव ने दोनों हाथों में खड्ग लेकर उसी से देवी के चरणों का स्पर्श किया और तत्पश्चात् अपने दाहिने आँगूठे को खड्ग की धार पर दबा दिया। रक्त बहने लगा। उसी रक्त से देवी के चरणों की पूजा कर उन्होंने खड्ग मस्तक से लगाकर माँ के चरणों में रख दिया। माँ ने उसे पुनः उठाकर उनके दोनों हाथों में रखकर कहा—“चन्द्रशेखर रक्षा करें !”

इसी प्रकार बारी-बारी से सबने प्रतिज्ञा और आशीर्वाद लिया। अन्त में माँ ने थके-से स्वर में कहा—“शंखचूड़ ! पुत्रो मेरा कार्य समाप्त हुआ। मैं अब जाती हूँ तुम भविष्य की योजना बनाओ, किन्तु जहाँ भी कहीं मेरी आवश्यकता होगी मैं तुरन्त ही दिखाई दूँगी।” सब ने माँ को विनीत होकर प्रणाम किया। माँ के चले जाने पर सब ही ने आसन गृहण किये। बहुत समय तक मन्त्रणा होती रही। अन्त में वृद्ध कीर्तिप्रभु ने हँसकर कहा—“जिन हाथों ने आज से अर्द्ध शती पूर्व सम्राट् शिवनन्दी को युद्ध-क्षेत्र में खोया था वही हाथ, भले ही वृद्ध हों, उसके वंशज को खोजकर लायेंगे और मगध के सिंहासन पर बैठायेंगे।”

शंखचूड़ और चन्द्रभाल चिल्ला उठे—“आर्य कीर्तिप्रभु की जय !” कीर्तिप्रभु ने हँसकर कहा—“जय-विजय शिव की, हम तो मात्र सेवक हैं। प्रसन्नता का विषय तो यह है कि इस अवस्था में पुनः युद्धदेवी, रणचण्डी की, पूजा कर सकूंगा। अनेकों युद्ध किये किन्तु इस युद्ध जैसा आनन्द और कहीं नहीं आया। आर्य शिवनन्दी स्वर्ग से अपने साथी के कार्य देखेंगे। यदि किसी प्रकार उनका पुत्र ही मिल सकता।”

“कौन जाने वह जीवित ही हों।” चन्द्रभाल ने आशा से कहा।

“त्रिलोचन पण्डित और शल्य उन्हें लेकर भाग तो गये थे, किन्तु फिर कोई भी तो समाचार नहीं मिला। जो भी हो वह जहाँ भी होगा कीर्तिप्रभु उसे खोजकर लायगा ही।”

सब ने साधु-साधु की ध्वनि की। कीर्तिप्रभु ने फिर कहा—“मुझे एक वर्ष का समय दो यदि इस बीच लौट सका तो आर्य विराट मेरे साथ होंगे और भू-भार हटेगा ही। यदि आगामी वर्ष कार्तिक की कृष्णपक्ष द्वितीया तक इसी स्थान पर लौट न सकूँ तो समझ लेना कि कीर्तिप्रभु विश्व में नहीं है। इस बीच जो-जो कार्य जिस-जिस को दिये गये हैं उनका पूर्णतया सम्पन्न होना अत्यन्तावश्यक है। यह भली प्रकार समझ लेना।”

“ऐसा ही होगा, महानायक !” कान्तिदत्त ने दृढ़ता से कहा।

“यह क्या ? इस वृद्ध के नायकत्व में तुम लोग सम्मिलित युद्ध करोगे ?”

“यही होगा, महानायक !” श्रीवत्स ने खड्ग से सामयिक रीति से प्रणाम करके कहा।

वृद्ध कीर्तिप्रभु हँस दिये—“जैसी तुम्हारी इच्छा !”

“और मुझे क्या आज्ञा है प्रभु ?” शंखचूड़ ने पूछा।

“ब्राह्मण के बालक आज्ञा देते हैं लेते नहीं। और तू तो बेटा

इस देश के नवनिर्माण में नींव का प्रस्तर है। तुझे आज्ञा। तू यहीं रहकर माँ की सेवा कर। समय आने पर गैरिक भी त्यागना होगा।”

“पूज्यपाद अत्रि का शिष्य यह समझता है प्रभु !”

“तब वही हो।” अत्यन्त स्नेह से वृद्ध शंखचूड़ की ओर देखकर कहा।

चन्द्रभाल ने भी वृद्ध की ओर देखते हुए कहा—“मुझे कोई विशेष दायित्व नहीं मिला है। मेरा कार्य तो आर्य विराट् नन्दी के आ जाने के पश्चात् आरम्भ होगा। मैं तो आपके साथ ही रहूँगा।” उसके स्वर में बालहठ था।

“बरबस वत्स !” वृद्ध ने पूछा।

“हाँ, यदि आवश्यकता पड़ी तो।” वृद्ध के नेत्रों में आँसू भर आये। उन्होंने धीरे से कहा—“पिता की तरह तू भी पूरा हठी है चन्द्रभाल ! अस्तु, तू मेरे साथ ही चल। तुझे देखकर जान पड़ता है कि मेरा जयप्रभु ही स्वर्ग से लौट आया है।”

चन्द्रभाल ने आनन्द से वृद्ध के चरण छुए। वृद्ध ने उसे हृदय से लगा लिया। शंखचूड़ के नयनों में यह अद्भुत मिलन देखकर जल भर आया। कीर्तिप्रभु के दोनों कुमारों ने आगे बढ़कर चन्द्रभाल को प्रणाम करके कहा—“आज से आप हमारे बड़े भैया हुए।” चन्द्रभाल ने दोनों को स्नेह से बारी-बारी हृदय से लगा लिया।

स्वप्न

“ऐसे कितने दिन चलेगा प्रमदा ?”

“देवी को आज्ञा जो होगी वही होगा ।”

“मेरी आज्ञा से ही यदि विश्व-ब्रह्माण्ड चलता होता तो आज क्या यही अवस्था होती प्रमदा ?”

“देवी के मन में क्या है मैं नहीं जानती, फिर भी प्रतिदिन आपको शस्त्रादिक का अभ्यास करते देखकर मन-ही-मन न जाने क्यों भय होता है ?”

“भय होता है, आश्चर्य है ! भाल वंश के सम्पर्क में इतने दिन रहकर भी भय होता है प्रमदा ?”

“देवी की……” अचानक विशालाक्षी के मुख की ओर देखकर प्रमदा का सर्वांग काँप उठा । विशालाक्षी अत्यधिक कृश हो गई थी । उसके प्रियदर्शी मुख पर हलकी-सी पीन छाया पड़ रही थी । तेज से चमकते हुए उसके भाल पर छोटी-सी रक्तवर्ण बिन्दी चमक रही थी । जान पड़ता था कि मुखमण्डल के चारों ओर कोई अज्ञात छाया-सी मंडरा रही है । उसके श्वेत पड़ते हुए, लालिमा लिए हुए, ओष्ठ कँपकर स्थिर हो गये । उन्होंने कहा—“सुनो प्रमदा, यदि मैं उनके दर्शन न कर पाऊँ……”

“ऐसी अशुभ बात क्यों कहती हैं, देवि ?” प्रमदा ने बीच ही में रोककर कहा ।

“जाने दे अब न कहूँगी ।”

“देवि ! आप भोजन तो कर लें, आज दूसरा दिन भी व्यतीत होने लगा है आपको निराहार ही ।” प्रमदा ने चिन्ता से कहा ।

“जिनका भार मेरे ऊपर है उन्हीं को किसी प्रकार अन्नाभाव में काल के गाल से सुरक्षित बनाये रख सकूँ, यही बहुत है प्रमदा !”

“देवि ! आप चिन्तित क्यों होती हैं ? आज भी आपकी प्रजा……”

“मेरी प्रजा मुझ पर श्रद्धा रखती है, किन्तु प्रमदा ! क्या मैं गढ़ मण्डलेश्वरी जाऊँगी उनके निकट भिक्षा-पात्र लेकर जो एक दिन मेरी प्रजा थी ?”

“आपको जाना नहीं होगा, देवि ! केवल उन लोगों के आने पर उन्हें दर्शनमात्र देना होगा ।” बहुत साहस से प्रमदा ने कहा ।

विशालाक्षी एकबारगी मौन हो रहीं, फिर घनीभूत वेदना स्वर में लिये गौरवसहित बोली—

“प्रमदा, तुझे भी स्मरण होगा जिस दिन……दुर्दिन के प्रारम्भ में भी इस गढ़ में आई थी तब तक यहाँ प्रजा जब भी कभी भेंट लेकर आती थी तो उन्हें पुरस्कार दिया जाता था……यहाँ तक कि सुनकर देने आने पर भी गढ़ की ओर से स्वागत-सत्कार की व्यवस्था होती थी ।”

उनके सुन्दर नयनों में जल भर आया । उसे उन्होंने तुरन्त ही आँचल से पोंछकर कहा—“अब और अधिक नहीं रोऊँगी । भालवंश की वधु विपरीत परिस्थितियों का सामना हँसकर न कर सकी । यह कोई नहीं कह सकेगा । आज जो मेरी प्रजा नहीं है, जो केवलमात्र भालवंश के स्नेह से खिंचकर यहाँ आयेंगे उन्हें दो मुट्ठी अन्न की न दे सकूँगी । इस खण्डहर में रात्रि भर विश्वास की व्यवस्था भी नहीं कर सकूँगी । नहीं, नहीं, आज भी वृद्ध गढ़ मण्डलेश्वर जीवित हैं । अपने नेत्रों के सम्मुख उनको, भालवंश को, चार व्यक्तियों के सम्मुख बुरी तरह लज्जित होते नहीं देख सकूँगी प्रमदा ! प्रजा से भेंट अब भालवंश तब ही

करेगा जब वह सचमुच उसकी प्रजा होगी। जब उनके मण्डलेश्वर स्वयं....” भावाधिकता से उनका कण्ठ भर आया। वह मौन हो गईं।

प्रमदा इस गौरवशालिनी नारी को देखती ही रह गई। मन-ही-मन उसने उस देवी को प्रणाम किया जो स्वेच्छा से विपत्ति सहन कर रही थी। प्रमदा ने सुझाया—“देवि ! आप अज्ञातवास कर रही हैं अन्यथा आपका पितृगृह इस दुर्दिन में भी....”

बात काटकर उसने कहा—“वह बात आज मत करो प्रमदा ! मैं किस वंश की पुत्री हूँ, यह मैं स्वयं ही विस्मरण कर चुकी हूँ। आज तो मैं केवलमात्र भालवंश की वधु हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं...कुछ भी उत्तेजना से वह हाँप गई थी। दुर्बल शरीर इतनी उत्तेजना नहीं सहन कर पा रहा था। प्रमदा ने साहस करके कहा—“भोजन....”

“नहीं, अन्न केवल पिता को ही दो। उनका वृद्ध शरीर केवल अन्न ही तो ले सकेगा मैंने शस्त्रास्त्र का अभ्यास किया है, अतः मृगया करके भी अपना पेट भर सकूंगी।”

“आप देवि ! आप निरामिषभोजी....।”

“भालवंश की वधु यदि प्राण रखने को किसी का आश्रय लेगी तो वह केवल वन्य-पशुओं का। किसी भी मानव के सम्मुख वह हाथ नहीं फैला सकेगी, प्रमदा !”

“किन्तु....”

“नहीं, नहीं किन्तु-परन्तु नहीं...मैं, जानती है, किस स्वामी की पत्नी हूँ ? मुझे प्राण रखना ही है चाहे जिस प्रकार हो... उनके वंश की रक्षा करना ही होगा।”

प्रमदा ने मन-ही-मन विचारा—धन्य है यह नारी...अनेक-नेक दुःख सहन करके भी इनकी सेवा करना अत्यधिक सौभाग्य की

बात तो है ही ।

उन्होंने फिर कहा—“मैंने एक स्वप्न देखा है, प्रमदा !”

“क्या देखा है, देवि ?”

“मैंने देखा था कि गम्भीर समुद्र के बीच मैं एकाकी स्वर्ण-नौका पर खड़ी हूँ चारों ओर बवंडर आ रहा है... मैं अपनी नौका की पतवार खड़े होकर खे रही हूँ... इसी समय जल में भँवर पड़ने लगे । एक विशालकाय मगरमच्छ जैसे ही मेरी नौका पर झपटा वैसे ही मैंने अपनी पतवार उसके सिर पर दे मारी । इसी समय एक दूसरी रत्न-जटित नौका पर तुम्हारे गढ़ मण्डलेश्वर मेरी ही ओर आते दिखाई दिये । उन्होंने निकट आकर ताककर एक भाला मगरमच्छ पर फेंका । मगरमच्छ तुरन्त मरकर जल में गिर गया । किन्तु मैंने ज्यों ही उनकी नौका पर पग धरना चाहा त्यों ही नौका खिसक गई । उन्होंने मेरा हाथ थामकर अपने निकट करना चाहा किन्तु आकाश से एक विद्युत रेखा-सी, ज्योति-सी आकर मुझे लेकर आकाश में उड़ गई...”

“देवि ! गढ़ मण्डलेश्वर शीघ्र ही दर्शन देंगे ।”

“किन्तु क्या मैं उनके दर्शन पा सकूँगी, प्रमदा ?”

“क्यों नहीं, देवि ! आप आज दस-बारह वर्ष से माँ गौरी की सेवा कर रही हैं, क्या वह आप पर कृपा नहीं करेंगी । नहीं, नहीं, देवि ! उमा इतनी निष्ठुर नहीं हो सकती ।”

अचानक चमककर उन्होंने कहा—“प्रमदा ! मैं युद्ध करूँगी... उनके पार्श्व में उनकी रक्षा के लिए उपस्थित रहूँगी...” फिर तुरन्त ही निराशा में आधापान्त डूबकर कहने लगी—“किन्तु वह हैं कहाँ ?” फिर स्वयं हो बोली—“प्रमदा, जान पड़ता है मैं विक्षिप्त हो जाऊँगी, किन्तु नहीं उसको भी सुविधा कहाँ है ? नहीं, मैं मर नहीं सकती, विक्षिप्त नहीं हो सकती, यहाँ तक कि रुदन भी नहीं कर सकती प्रमदा !”

इसी समय दूसरे प्रकोष्ठ से क्षीण-सा स्वर सुन पड़ा—“बेटी !” विशालाक्षी तुरन्त वहीं चली गई। “पिता जी !” उसने निकट जाकर कहा।

“चन्द्रभाल का कुछ समाचार मिला बेटा ?” पिछले कुछेक दिनों से वृद्ध प्रतिदिन यही एक प्रश्न विशालाक्षी से दिन में कितनी ही बार पूछते थे। विशालाक्षी नयनों में ही अश्रुजल पीकर एक ही उत्तर सदा देती थी—‘पिता जी, वह आयेंगे।’

‘कब, बेटा ?’ प्रश्न होता।

‘शीघ्र ही, अत्यधिक शीघ्र’ धैर्य से वह कहती, किन्तु उसका अन्तर हाहाकार कर उठता।

‘तेरा सौभाग्य अखण्ड हो, बेटा !’ वृद्ध हृदय की अन्तिम कोर से क्षीण स्वर में आशीर्वाद देता और वह उसे अत्यधिक श्रद्धा से ग्रहण कर लेती सिर-माथे पर। वृद्ध अत्यन्त विवशता से कहता—‘यदि मैं एक बार उठ सकता बेटा, केवल एक बार ही खड्ग धारण कर सकता।’ माँ की-सी वात्सल्यता से वह कहती—‘पिता जी ! वही कार्य तो आपके पुत्र कर रहे हैं।’ वृद्ध की विवशता पर उसके नयनों में जल उमड़ आता।

पराकाष्ठा

दो अश्वारोही सड़क छोड़कर एक छोटी-सी पगडण्डी से चले जा रहे हैं। राजपथ प्रशस्त है, किन्तु न जाने क्या सोचकर वह मुख्य मार्ग से न जाकर गौण मार्ग ही पकड़े हैं। अश्वारोही सिर से पैर तक लौह वर्म में है। शीश पर शिरस्त्राण भी है। यद्यपि शरीर का कोई भी भाग दिखाई नहीं देता है फिर भी उनमें से एक दूसरे की अपेक्षा कुछ अधिक थकित जान पड़ता है। रात्रि का अभी प्रथम प्रहर ही था। पहले ने दूसरे से कहा—“चन्द्र ! रात्रि-विश्राम कहाँ होगा ?”

“जैसे आपकी आज्ञा, अन्यथा किसी वृक्ष-तले।”

“वृक्ष-तले ही ठीक रहेगा, चन्द्र !”

“हाँ, सम्भवतः अधिक सुरक्षित रहेगा।”

“महाक्षत्रप खेत्रपल्ल के राज्य की सीमाओं में वृक्ष से अधिक सुरक्षित स्थान और कहाँ मिलेगा ? चन्द्र !” तनिक-सा हँसकर वृद्ध ने कहा।

“आपके लिए तो राजप्रासाद प्रतीक्षा करते हैं, किन्तु प्रभो ! आप उन्हें स्वीकार करेंगे ?”

“करना तो चाहता था चन्द्र, आज भी चाहता हूँ, किन्तु क्या करूँ वह सब मुझे पचता कहाँ है ? अपच हो जाता है ना ? क्या करूँ ?” कहकर वह स्वयं हो-हो करके हँस दिये। चन्द्रभाल भी हँस दिये।

दोनों ने एक साथ ही किसी बालिका के कण्ठ की चीख सुनी।

चन्द्रभाल का नवीन रक्त उबल उठा। वृद्ध ने भी अश्व शीघ्रता से बढ़ाया।

“चन्द्र !”

“आज्ञा ?”

“देखें, यह कौन दुष्ट है जो किसी बालिका को सता रहा है ?”

“चलिये, बढ़ें।”

“इस समय ध्येय को छोड़कर किसी विपत्ति में कहीं पड़ न जायँ, चन्द्र !”

“विपत्ति तो शिव-सेवक के लिए वरदान है पितृक।” हीनता से चन्द्र ने कहा।

“चलो, शिवशंकर दीन के सहायक हैं।”

लगभग एक मील पथ से विलग घने जंगल जैसे भाड़खण्डों में से अश्व दौड़ाते हुए दोनों अश्वारोही चीख के निकट ही पहुँचते गये। एक बालिका बीच में खड़ी चीख रही थी और पाँच अश्वारोही उसे घेरकर खड़े थे। उनमें से एक अत्यधिक रसिकता से बालिका की ओर बढ़ रहा था। बालिका भय से चीख रही थी। पास ही एक वृद्ध की मृत देह दो खण्डों में विभक्त पड़ी थी। वृद्ध के रक्तलिप्त मृत मुख पर सौम्यता थी। उसकी मुँदी आँखों में वेदना तड़फती जान पड़ती थी। असहाय बालिका को देखकर चन्द्रभाल के नेत्रों में ज्वालाएँ तड़फ उठीं। उसका हाथ खड्ग पर पड़ गया। वृद्ध ने उसे संकेत से निषेध कर दिया। सैनिक कुशन जान पड़ते थे। वृद्ध कीर्तिप्रभु ने आगे बढ़कर सैनिकों से कुछ डपटकर कहा—“तुम कौन हो दुष्ट ? इस प्रकार इस नर्ही-सी बालिका को क्यों कष्ट दे रहे हो ?”

सैनिकों ने तनिक मुड़कर देखा। यद्यपि दोनों सैनिक वेश में थे तो भी उनका वेश इन सैनिकों से भिन्न था। उद्दण्डता से एक ने कहा—“जाओ, जाओ अपनी राह देखो। अन्यथा प्राणों से

हाथ धो लोगे।”

चन्द्रभाल की असि हाथ में थी, किन्तु कीर्तिप्रभु ने फिर संकेत से निषेध किया। अत्यन्त कठिनता से चन्द्रभाल ने संयम किया।

“मैं तो भाई यही पूछ रहा हूँ कि इस बालिका ने तुम्हारा क्या अपराध किया है?”

बालिका सहायक आये देखकर कुछ सँभली। इस बार उसने तड़फकर कहा—“देखिये, मैं परम् पवित्र शूर वंश ” इतना सुनते ही पाँचों सैनिक ठठाकर हँस पड़े, किन्तु कीर्तिप्रभु और चन्द्रभाल की नस-नस में विद्युत-सी कौंध गई। एक सैनिक ने उत्तर न देकर वृद्ध पर खड्ग से वार किया, किन्तु विद्युत की-सी तीव्रता से चन्द्रभाल ने एक ही वार में आक्रमणकारी को धरा-शायी कर दिया। अन्य चारों सैनिक बालिका को छोड़कर चन्द्रभाल के ऊपर दूट पड़े। इसी बीच कहीं से अन्य चार सैनिक निकलकर कीर्तिप्रभु की ओर भपटे। कीर्तिप्रभु सावधान थे। उन्होंने एकाकी ही चारों के आक्रमण बचाते हुए विद्युत की-सी शीघ्रता से खड्ग चलाना आरम्भ किया। तनिक देर में इन दोनों ने सैनिकों को धरती पर लोटा दिया। कीर्तिप्रभु के शरीर से पर्याप्त रक्त निकल चुका था। उन्होंने अपने ही तनिक से वस्त्र से ब्रण बाँध लिये। चन्द्रभाल ने भी अपने शरीर पर लगे अनेकों ब्रण ज्यों-त्यों बाँधे। बालिका चित्रलिखित-सी खड़ी थी। कीर्तिप्रभु ने चन्द्रभाल से कहा—“चन्द्र ! अब हमें तुरन्त ही निकल जाना चाहिए। यह तो विपत्ति का आरम्भ ही है। कहीं हम लोग घेर न लिए जायँ।” चन्द्र ने बालिका की ओर देखकर पूछा—“अश्व पर बैठ सकोगी?”

बालिका ने गर्व से उत्तर दिया—“मैं अश्व पर बैठकर स्वयं भी जा सकती हूँ।” वृद्ध ने ध्यान से बालिका की ओर देखा।

उन्हें तुरन्त ही 'शूर वंश' की स्मृति हो आई जो कि उन्होंने अभी बालिका के मुख से सुना था। अचानक उन्होंने धरती पर पड़े मृत मुख की ओर देखकर कहा—“बेटा ! यह क्या चन्द्रशूर हैं ?”

“हाँ, यह मेरे पितामह हैं”—कहकर बालिका रो पड़ी। वृद्ध कीर्तिप्रभु अश्व से उतरकर शव से लिपटकर रोने लगे बालकों की भाँति। चन्द्र ने बालिका से पूछा—“बेटी ! तुम यहाँ किस प्रकार आई ?”

“पितामह वृद्ध हो गये थे। वह मुझे आर्य कीर्तिप्रभु की सन्तान को सौंपने के लिए चले थे। मार्ग में हमारे अनुचर मार डाले गये। दुष्ट कुशन सैनिकों ने हम पर चार आक्रमण किये। पिता दो बार तो युद्ध करते रहे, किन्तु तीसरी बार हमारे अस्त्र-शस्त्र और अश्व छीन लिये गये फिर भी कौशल से मैं और पितामह कुशन सैनिकों के बन्धन छुड़ाकर भाग आये। अब किसी प्रकार रात्रि-रात्रि वन में छिपकर जा रहे थे कि इन सैनिकों ने पकड़ लिया। निरस्त्र पितामह क्या करते ? इन्होंने उनकी निरस्त्र निरपराध शूरवंश के अन्तिम गौरव की हत्या कर दी। शेष आप जानते ही हैं।” बालिका रोती भी जा रही थी। रुदन के बीच शब्द खो भी जाते थे। कीर्तिप्रभु सँमल चुके थे। उन्होंने चन्द्रभाल से कहा—“चन्द्र ! इस पवित्र रक्त को छूकर आज प्रतिज्ञा करता हूँ कि कुशन वंश का सर्वनाश करके ही मरूँगा। वृद्ध निर्दोष परम् पवित्र पुरातन राजवंश के निरस्त्र वंशधर की हत्या और उसकी बालिका से अनाचार करने का प्रयत्न अत्याचार की पराकाष्ठा है चन्द्र ! अब यह साम्राज्य अवश्य ही नष्ट होगा। ब्रह्मा भी इसे बचा नहीं सकेंगे। शंकर के तीसरे नेत्र के खुलने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम बालिका को अपने अश्व पर ले लो और मैं विजयशूर की मृत देह को ले चलूँगा। सुरक्षित स्थान मिलते ही इनकी अन्तिम क्रिया करनी होगी। हे शंकर ! हम तनिक समय

पूर्व ही आ गये होते ।”

“शिव का धन्यवाद है कि बालिका ही मिल गई ।”

“तुम नहीं जानते, चन्द्र ! बालपन में हम दोनों एक ही स्थान पर पले थे । हमने प्रतिज्ञा की थी कि सदैव साथ रहेंगे । साथ-ही-साथ आर्य शिवनन्दी के पार्श्व में हमने अन्तिम युद्ध किया तत्पश्चात् हमें एक दूसरे से भेंट करने का अवसर नहीं मिला । विजयशूर का पुत्र एक छोटे से युद्ध में वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया । पुत्रवधू सती हो गई, किन्तु यह उसकी ही कन्या है यह मैं नहीं जानता था ।”

बालिका ने पूछा—“आप महाराज कीर्तिप्रभु तो नहीं हैं देव ?”

“मैं वही अभागा हूँ, बेटी !” वृद्ध के नेत्रों में आँसू थे ।

“शंकर ने पितामह की अन्तिम इच्छा पूर्ण कर दी किन्तु ”

चन्द्रभाल ने कहा—“हमें शीघ्रता करनी चाहिए । कहीं फिर न घिर न जायँ । हम थके हुए भी हैं और रक्तस्त्राव भी हो रहा है ।” वृद्ध ने भी कहा—“और है भी हमारा अज्ञातवास काल । अच्छा, शिव की इच्छा पूर्ण हो । उनका यह भार भी साथ ही रहेगा अब ।”

“आप मुझे अस्त्र देंगे ? मैं भी अस्त्र चला सकती हूँ । पर हमारे अस्त्र तो मलेच्छों ने छीन लिये, देव !”

घोर दुःख में भी दोनों के मुख पर तनिक-सी आशा की झलक दीख पड़ी । वह लोग अश्वारोही होकर चल दिये, किन्तु राजमार्ग छोड़कर एकबारगी अपथ से । मार्ग में चन्द्रभाल से बालिका ने कहा—“मैं क्षत्रिय कन्या हूँ । मलेच्छों के हाथ पड़ने पर भी वंश-गौरव तो रखती ही ।” नन्हीं-सी असहाय बालिका के मुख से यह सुनकर चन्द्रभाल चौंक उठे । उन्होंने जिज्ञासा रूप में पूछा—“सो कैसे, बेटी ?” बालिका ने तुरन्त अपने

वस्त्र में से एक तीव्र हीरा निकालकर दिखा दिया ।

“मेरी माँ सती हो गई थीं । क्षत्रिय कन्या को क्या भय का आवाहन करना भी सिखाना पड़ता है ?” साथ चलते वृद्ध ने सुनकर कहा—“कौन कहता है यह देवभूमि नहीं है ? यह पवित्र भूमि कभी भी मलेच्छों का क्रीड़ा-स्थल बनी नहीं रह सकती है ।”

चन्द्रभाल ने उत्साह से कहा—“आप सत्य कहते हैं पिता ! यह पवित्र भूमि देवभूमि स्वाधीन होगी और अवश्य होगी ।”

नन्हीं-सी बालिका अचानक ही बोल उठी—“देव ! पितामह कहते थे कि यदि आज भी मालव, यौधेय, कुणिन्द तथा अन्य प्राचीन प्रजातन्त्रीय राजवंश तथा भाल, शूर, पाणि आदि अभिजात वंश मिलकर नागों के उच्च ताड़ वृक्ष चिह्नित ध्वज के नीचे खड़े हो जायँ तो समस्त-विश्व ब्रह्माण्ड में ऐसा कौन है जो उन्हें जीत सके ।” बालिका बीच-बीच में अत्यन्त धैर्य, गौरव, साहस और वीरता से बात कर देती थी, किन्तु अधिकतर रुदन ही करती रही; यद्यपि उसके रुदन का स्वर धीमा था । उसका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए चन्द्रभाल ने अश्व-संचालन का भार भी उसे कुछ-कुछ दे दिया था, फिर भी वह अपने प्रिय पितामह का शव दूसरे अश्व पर रखा देखते ही रुदन करने लगती थी । कीर्तिप्रभु ने बालिका की ओर क्षणिक देखकर कहा—“चन्द्र ! भाई विजयशूर ने बालिका की शिक्षा में न्यूनता नहीं की है । यदि आज इस बालिका के पिता जीवित होते तो मेरा कार्य आधा ही रह जाता । ओह ! वैसा योद्धा शताब्दियों में कहीं एक देखने-सुनने को मिलता है । मैंने तो उसे माँ गंगा की वादी के युद्ध में दोनों हाथों से खड्ग चलाते हुए देखा है । अद्भुत था वह दृश्य और इसकी माता साक्षात् भवानी का ही अवतार थी ।”

“पितृव्य ! बालिका के मुख से भी वही निकला है जो यथार्थ

है, जो बड़े-बड़े धुरन्धर राजनीतिज्ञ ही कह सकते हैं ।”

“विजयशूर की ही वाणी बालिका में बोल रही है और विजय-शूर विलक्षण राजनीतिज्ञ था ।” वृद्ध गोद में रखे सिर की ओर देखकर क्षणिक को बालकों की भाँति अधीर हो गये । बालिका भी रो रही थी, किन्तु चन्द्रभाल क्रोध से काँप रहे थे । वह मन-ही-मन सर्वांग से संहारकर्त्ता शिव का आवाहन कर रहे थे । कौन कह सकता है कि शिव ने भक्त की आतुर पुकार सुन ही ली हो ।

गढ़पति

“कान्तिपुर तो किसी-न-किसी प्रकार हस्तगत करना ही होगा ।”

“सो तो होगा ही, किन्तु मार्ग में चण्डीगढ़ में कुशनों का प्रबल दल है उसे हस्तगत किये बिना कान्तिपुर पहुँचना कठिन है ।”

“किन्तु यदि नागवंश के वंशधर को खोजकर महाराज कीर्ति-प्रभु लौट ही आये तो पवित्र माँ गंगा के तटवर्ती कान्तिपुर के अतिरिक्त कहाँ शासन स्थापित किया जायगा ?”

“नहीं, नहीं चाहे जो हो यौधेयों की यह भेंट तो नागों के लिए उनके पहुँचने से पूर्व उपस्थित होनी ही चाहिए ।”

“तब प्रभो आज्ञा हो ।” एक नवयुवक-से दिखाई देने वाले सैनिक ने उत्साह से कहा ।

जिस समय कुशनों का सौभाग्य-सूर्य उदय हो रहा था, भारत-भूमि पर उत्तराखण्ड में कई प्रजातन्त्र राज्य थे । नाग, मालव, यौधेय, कुणिन्द आदि ऐसे ही प्रजातन्त्रों में से थे । नागवंश के अन्तिम सम्राट् शिवदात अथवा शिवनन्दी के पश्चात् नागों ने एक प्रकार से मध्य प्रदेश की पहाड़ियों के प्रदेश में अज्ञातवास किया । अन्य प्रजातन्त्र राज्यों से सम्बन्धित पुराने राजवंश अर्थात् प्रजातन्त्रात्मक राज्यों की सभाओं के पुरातन सभासद वंश उत्तर प्रदेश में ही रह गये । इनमें से कुछ तो किसी तरह दिन व्यतीत कर रहे थे । कुछ नष्ट हो गये थे और कुछ अपने कुछेक विश्वस्त

सैनिकों आदि के साथ उचित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे । कान्तिदत्त यौधेयों का वंशधर था ।

बारह वर्ष पूर्व की बात है जबकि लगभग बालक कान्तिदत्त, जिसकी आयु अधिक-से-अधिक सत्रह वर्ष की होगी, वाराणसी में विद्याध्ययन कर रहा था—सुदूर मध्य भारत अथवा दक्षिण भारत से एक तेरह वर्ष की कन्या विद्याध्ययन के लिए वाराणसी आई । कान्तिदत्त और वह कन्या एक ही गुरु के आश्रम में थे । बालिका अल्पायु होने पर भी अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि एवं भावुक थी । अतीव सुन्दरी होते हुए भी सरलहृदया एवं दृढ़-प्रतिज्ञ थी । उसके साथ उसके अभिभावक के रूप में केवल एक वृद्ध ब्राह्मण थे । बालिका पितृहीना थी और सम्भवतः कहीं उसके एक भ्राता मात्र थे जो कि उससे लगभग दस-ग्यारह वर्ष ही बड़े होंगे । बालिका और उसके अभिभावक अपने वंश, नगर आदि का परिचय नहीं देते थे । न जाने कैसे दो वर्ष साथ रहते-रहते कान्तिदत्त और बालिका में अत्यधिक स्नेह हो गया । गुरु और अभिभावक की आज्ञा प्राप्त करके उन दोनों ने विवाह भी कर लिया । अभिभावक लौट गये और यह दोनों यौधेय नगरी आ गये । किन्तु बालिका अत्यन्त भावुक थी । गंगा के दर्शन करते ही उसे यह स्मरण आ जाता था कि आज भी माँ गंगा कुशनों, विदेशियों के अधिकार में है । आज भी वह पवित्र जल अश्वमेध यज्ञ में उच्चरित मन्त्रों से गुँजरित नहीं होता, आज भी इस पतित-पावनी का जल वेदमन्त्रों से मुखरित नहीं होता और आज इस पवित्र देवभूमि पर विदेशी शासन, तद्जन्य अत्याचारों का सर्वथा अभाव नहीं है । बालिका क्रोध, वेदना, निराशा और दुःख से काँप उठती । कभी-कभी तो कान्तिदत्त को उसे सँभालना भी कठिन हो जाता । सुख, आनन्द और हर्ष में ही व्यतीत किये जाने वाले दिन भी बालिका की भावुकता से निरानन्द ही रह जाते । इसी प्रकार

किसी तरह एक वष व्यतीत हुआ। एक दिन प्रातःकाल स्नानादि करके उसने पति के चरण छुए। उस दिन शिवरात्रि थी। पति ने स्नेह से उसके मुख की ओर देखा। उसने कहा—“देव ! जन्म-जन्मान्तर तक उमा की तरह शिव की उपासना करूँगी जिससे तुम्हीं मुझे सदा-सर्वदा जन्म-जन्म में पति-रूप में प्राप्त हो।”

हँसकर कान्तिदत्त ने कहा—“आज देवी का प्रसाद पाकर कृतार्थ हुआ।”

“सुनो !” उसने कहा—“किन्तु पतित-पावनी के तट पर अब उस समय तक वास नहीं कर सकूँगी जब तक कि यह देश अपना ही नहीं हो जाता।” अग्नि की ज्वाला मुखरित हो उठी थी।

“तब चलो, कहीं और ही चलें।”

“नहीं, तुम्हारे शरीर में आज भी यौधेय-रक्त प्रवाहित हो रहा है। अब तुम्हारे चरणों के दर्शन तब ही करूँगी जब तुम स्वाधीन गढ़ के गढ़पति होगे जब कि तुम स्वतन्त्र देश...स्वतन्त्र राज्य...प्रजातन्त्रीय साम्राज्य के राजा होगे...”

“तब ?” प्रश्नसूचक दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए पुरुष ने कहा।

“कुछ नहीं।” उसने साधारण-से स्वर में कहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल देवी भवन में नहीं थीं। उसी दिन से कान्तिदत्त अर्द्ध विच्छिन्न की भाँति रहते हैं और विदेशी राज्य का जुआ उतारने के कठोर प्रयत्नों में संलग्न हैं। उधर रात्रि के अन्धकार में पुरुष वेश में अश्वारोहिणी वह बालिका घर से चल दी बिना किसी आश्रय के। प्रायः अठारह मास पश्चात् उत्तराखण्ड से मध्य प्रदेश की पहाड़ियों तक विदेशी राज्य के प्रति घृणा उत्पन्न करती जब वह धूल से सनी, दुर्बल और थकित मध्य प्रदेश की पहाड़ियों से घिरे नागराज्य में पहुँची तो सूर्यास्त हो चुका था। नगर का प्राचीर अभी दूर ही था कि गुरुदेव त्रिभुवन परिडित

जलपात्र लेकर उसी ओर आते दिखाई दिये। लगभग ढाई वर्ष पूर्व जिस बालिका का स्वयं विवाह करके वह काशी से लौटे थे उसे ही इस प्रकार पुरुष-वेश में अश्व पर देखकर क्षण भर को ठिठक गये। बालिका कूदकर गुरुदेव के चरणों पर गिर पड़ी। गुरुदेव ने बालिका को उठाकर छाती से लगा लिया। दोनों के नेत्र अश्रुपूर्ण थे। कुछ क्षण मूक भाषा के पश्चात् बालिका ने कहा—“गुरुदेव ! अपराध क्षमा हो।” गुरुदेव ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—“मैं जानता था कि तू आयगी। नागकन्या मलेच्छ राज्य में क्योंकर रहेगी ? बेटा ! कान्तिदत्त के हृदय में भी अग्नि भर आई हो क्या ?”

“गुरुदेव ! वह तो देवता हैं।”

“महेश्वर तुम्हारा मिलन शीघ्र ही सम्भव करें।” अज्ञातवास की अवधि अभी शेष है। महादेव की आज्ञा अभी नहीं हुई, और दस वर्ष बीत चुकने पर भी नवदेवी, वही बालिका आज युवती हो जाने पर भी वही है। भतीजा वीरसेन अपनी पिता की ही देखरेख में बढ़ रहा है। अज्ञात कुल-शील वाली कन्या को घर लाकर भी कान्तिदत्त रख न सके। आज भी कभी-कभी कान्तिदत्त को जान पड़ता है, और मन में गम्भीर विश्वास भी है कि वह आयगी, अवश्य आयगी उस दिन जिस दिन वह कान्तिपुर पर भगवा शिव-ध्वज फहरा सकेगा, जिस दिन उच्च ताड़-वक्ष चिह्नित ध्वज ही उत्तराखण्ड में साम्राज्य चिह्न की भाँति दिखाई देगा। वह उसी के लिए प्राणों की बाजी लगाकर प्रयत्न कर रहा है।

अर्द्ध विक्षिप्त की भाँति दिखाई देने वाले वीर कान्तिदत्त के हृदय के भीतर कैसी भयंकर अग्नि जल रही है, यह कौन जानता है। शिव मन्दिर में गुप्त मन्त्रणा हो चुकने के पश्चात् तथा महाराज कीर्तिप्रभु और गढ़ मण्डलेश्वर चन्द्रभाल के प्रस्थान के पश्चात् तो कान्तिदत्त की विक्षिप्तता एवं उत्साह और भी अधिक

बढ़ गया। अपने छोटे-से दल, जो कि-अधिक-से-अधिक दो हजार सैनिकों से अधिक का न होगा, को लेकर जहाँ-तहाँ कुशन-सेना पर आक्रमण करके उन्हें परास्त करके तथा उनकी युद्ध-सामग्री हस्तगत करके एकत्रित किये ही जाते थे। प्रत्येक विजय उन्हें अपनी प्राण-प्रिया नवदेवी का निकट लाती हुई ही दिखाई देती थी। इधर कुछ दिनों से उन्हें गंगा-तट पर स्थापित कान्तिपुर को हस्तगत करने की धुन लगी हुई थी। प्रायः प्रतिदिन निजी विश्वस्त साथियों से यही परामर्श हुआ करता था। मार्ग में स्थित चण्डीगढ़ कुशनों का बड़ा प्रबल स्थान था। अतः साथी-संगी दो हजार सैनिकों को लेकर चण्डीगढ़ जैसे सुदृढ़ गढ़ पर, जिसमें हर समय दस हजार सैनिक तत्पर रहते थे, आक्रमण करना केवलमात्र आत्म-हत्या ही समझते थे। किन्तु कान्तिदत्त निर्भय भाव से इस आत्म-हत्या के लिए प्रस्तुत थे। नवयुवक साथी की बात सुनकर कान्तिदत्त ने धैर्य से कहा—“भाई! प्रश्न आज्ञा का नहीं है। कान्तिपुर हमें लेना ही होगा। चण्डीगढ़ प्राप्त किये बिना कान्तिपुर कैसे मिलेगा? अतः चण्डीगढ़ भी हस्तगत करना होगा। अब रहा प्रश्न हमारे और शत्रुओं के बलाबल की परीक्षा, सो तो भगवान् शंकर के भक्तों की एक बार युद्ध-क्षेत्र में ही होती है। माना कि वह दस सहस्र हैं, किन्तु उनका तेज, उनका बल, उनका वीर्य तो पहले ही भगवान् त्रिशूलपाणि हर लेंगे। तुम तो निमित्त मात्र ही हो ना। कर्त्ता का गर्व-अभिमान त्यागकर केवल कर्तव्य-भावना से युद्ध-क्षेत्र में पदार्पण करो। महेश्वर तुम्हें विजयी अवश्य करेंगे। यह देह तो नश्वर है ही फिर इसका इतना मोह क्यों? योद्धा की मृत्यु तो उसके जन्म के पश्चात् ही सदैव आज्ञाकारी मृत्यु की भाँति उसके पीछे-पीछे रहती है। यदि जीवित रहे तो भू-भार हरेँगे और यदि धर्म-युद्ध में प्राण दे भी दिये तो परलोक में वास करेंगे उच्च स्थान पर ही। अतः कर्तव्य-मार्ग पर चलो, और बढ़ चलो।”

उनके मुख पर अपूर्व तेज था, और था असाधारण उत्साह ।

सहकारी ने भी इस बार उत्साह से उत्तर दिया—“तब यही हों । यदि दो हजार वीरों ने महेश्वर की कृपा से चण्डीगढ़ ले लिया तो हम सदा-सर्वदा के लिए अमर हो जायँगे और यदि युद्ध में खेत ही रहे तो केसरिया बाना और मृत्यु का आलिङ्गन तो निश्चित है ही फिर चिन्ता काहे की ? धर्म-युद्ध में प्राण त्याग करके महेश्वर पुरी में सदा-सर्वदा का वास प्राप्त होगा ।”

“यही तो वीरों की वाणी है । योद्धा युद्ध में बलाबल की परीक्षा करके नहीं जूझा करते हैं । वह शक्ति का अंकन नहीं करते केवलमात्र युद्ध-क्षेत्र में कूदा करते हैं । और बस ...”

इस बार एक वृद्ध सैनिक ने उत्साह से कहा—“किन्तु एक सम्मति तो आप मेरी इस समय मान ही लें, प्रभो !”

नम्रतापूर्वक कान्तिदत्त ने वयोवृद्ध अनुभवी योद्धा से कहा—“आज्ञा कीजिये, आप तो मेरे लिए पिता-तुल्य हैं आपकी सम्मति अवश्य मानूँगा ।” अप्रत्याशित अत्यधिक आदर से वृद्ध का हृदय भर आया ।

उसने कहा—“शक्ति, वीरता और साहस की जितनी सराहना की जाये उतनी ही थोड़ी है, किन्तु युक्ति का भी युद्धनीति में बड़ा भारी महत्त्व है । चण्डीगढ़ यदि हम युक्ति से प्रयत्न करेंगे तो दो सहस्र सैनिकों के साथ भी हस्तगत कर सकेंगे ।”

कान्तिदत्त ने ध्यानपूर्वक सुनकर उत्तर दिया—“आप ठीक ही कह रहे हैं । हमें मुक्ति का आश्रय लेना ही चाहिए, किन्तु आप सोचिये और ऐसा उपाय निकालिये जिससे कि सफलता हो ही जाय ।”

“उपाय एक हो सकता है ।” कहकर वृद्ध सैनिक ने धीरे झुककर कान्तिदत्त के कान में कुछ कहा । कान्तिदत्त कुछ देर विचार करते रहे फिर उन्होंने धीरे से कहा—“युक्ति सुन्दर है,

किन्तु बिना शंखचूड़ की सहायता से इसका पूर्ण होना कठिन है।”

“शंखचूड़ और देवी दोनों की सहायता की आवश्यकता होगी और सम्भवतः दोनों का सहयोग आपको प्राप्त हो सकेगा।”

“किन्तु यदि वह फँस गये तो?” तनिक सन्देह से कहा कान्तिदत्त ने।

“शंखचूड़ को फँसा सके, वह जाल अभी तक विश्व-ब्राह्मण्ड में बना ही नहीं है। जो व्यक्ति बुद्धि में, युक्ति में शंखचूड़ को परास्त कर सके, इस देश में तो उसका जन्म अभी नहीं हुआ है। मलेच्छों की क्या शक्ति है कि उसे फँसा सकें। और देवी साक्षात् काली की सेविका हैं, उनका कोई बाल तक बाँका नहीं कर सकता।”

“तब आज ही उनके पास सन्देश भेजा जाय। कौन दूत बनेगा?” कहकर कान्तिदत्त ने अपने आस-पास के साथियों की ओर देखा।

“मैं स्वयं ही दौत्य-कर्म करूँगा, प्रभो!”

“ठीक है, तब ऐसा ही हो। आप ह्यशाला से सर्वोत्तम अश्व और मार्ग कम लेकर इसी समय प्रस्थान कर दें। अधीरता से उन्होंने कहा।

“इस समय नहीं देव! अर्द्धरात्रि व्यतीत होते ही चल दूँगा। पूर्णिमा है आज, अतः मार्ग में सुविधा रहेगी। इधर आप अपनी सेना सज्जित रखिए। मैं एक पक्ष में ही लौटकर आपको समाचार दूँगा, और तुरन्त ही आपको सेनासहित प्रस्थान कर देना होगा।” वृद्ध की आँखें चमक रही थीं।

“ऐसा ही होगा।”

मन्त्रणा समाप्त हो गई। सब लोग चले गये। उदास मन से कान्तिदत्त बाहर की ओर चन्द्रमा की धवल ज्योत्सना की ओर देखने लगे। उन्होंने विकलता से कहा—“तुम कब आओगी?”

प्रतिध्वनि हलकी-सी होकर रह गई। उनके विकल प्राणों को उत्तर न मिलना था और न मिला। उनके नेत्र डबडबा आये।

उन्होंने कहा—“हे शंकर ! इसका कब अन्त होगा ? हे महेश्वर इस पीड़ा का अन्त कर दो। किसी प्रकार भी हो किन्तु वह आयेंगी... अवश्य आयेंगी। उन्होंने कहा था कि जिस दिन पतित-पावनी माँ गंगा के तट पर अश्वमेध का आयोजन हो सकेगा उस दिन वह इस घर को आकर पवित्र करेंगी वह आयेंगी... आओ... तुम आओ प्रिया नहीं... नहीं इस मलेच्छ द्वारा पददलित भूमि में तुम नहीं आओगी... मैं इसे मलेच्छ-शून्य करूँगा अवश्य करूँगा... तब ही तुम आना अन्यथा हमारा मिलन स्वर्ग में ही होगा।”

ठीक इसी समय सुदूर पर्वतीय प्रदेश में अज्ञातवास करते हुए नागराज नवनन्दी के प्रासाद के एक अपेक्षाकृत एकान्त प्रकोष्ठ में नवदेवी एक नन्हें बालक से कह रही थी—“वीर ! तुम्हें आर्यावर्त को शुद्ध करना होगा। माँ गंगा का तट पवित्र मन्त्रोच्चार से मन्त्रयूत करना होगा। यदि यह आशा क्षीण-सी आशा भी न होती तो सुदूर उत्तराखण्ड से अनेकानेक कष्ट पाकर मैं यहाँ न आती। आज वह न जाने कहाँ हैं और कैसे हैं ? ओह ! मैं उन्हें जानती हूँ स्वयं अपने से भी अच्छी प्रकार जानती हूँ... वह... वह ” वह भावों में बही जा रही थी।

बालक वीरसेन ने प्रश्न किया—“पित्रा ! वह कौन हैं ?” चौंक कर नवदेवी ने बालक की ओर देखा उनकी आँखें गीली हो रही थीं... उन्होंने प्रसंग परिवर्तित कर दिया। उनके मुख पर कोमलता के स्थान पर तनिक कठोरता आगई। उन्होंने मन्त्रोच्चार की भाँति कहा—“जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि।” बालक ने भी भक्ति से दोहरा दिया। पास ही बैठी हुई बालिका अनन्ता ने एक बार ध्यान से पित्रा की ओर देखा। उसकी चपल दृष्टि ने पित्रा के

नयनों में निहित अश्रुजल देख ही लिया। किन्तु कुछ कहने का उसका साहस ही कहाँ था ? कठोर पित्रा देश की आर्य संस्कृति की चर्चा के अतिरिक्त और कुछ सुनती भी कहाँ थी, किन्तु अनन्ता ने मन-ही-मन कहा—पित्रा ! आज जान पड़ा कि तुम भी नारी ही हो...अन्ततः केवल नारीमात्र ही हो ।

अश्विनीकुमार द्वै

गुप्त मन्त्रणा के पश्चात् राजवत्स एवं श्रीवत्स ने यह निश्चय किया कि महाराज कीर्तिप्रभु एवं चन्द्रभाल के लौटने तक देश में गुप्त रूप से सैन्य संग्रह किया जाय। मल्लराज श्री मल्ल और भीलराज शूर यद्यपि बनों और इधर-उधर के नागरिकता की छाया से भी दूर के प्रदेशों में अपनी सेनाएँ रखते थे, किन्तु वह सम्मुख युद्ध न करके शत्रु-सेनाओं को छकाने के लिए अधिक उपयुक्त होती थीं। हुविष्क यद्यपि कनिष्क के समान ही तेजस्वी एवं प्रभावशाली था, किन्तु इधर पाँच-सात वर्ष में देवी और शंखचूड़ ने देश भर में घूम-घूमकर कुशन के अत्याचारों, बौद्धधर्म की राजनीतिक एवं आध्यात्मिक दासता और विदेशी शासन के प्रति घृणा का जनता में प्रचार एवं प्रसार किया। अतः जिस जनता को शकों ने सर्वथा निर्बल कर दिया था और जिसमें नैतिक दृष्टि से अनेक दोष आ गये थे, उनके लिए शैव-साधुता अथवा विरक्ति भगवान् शंकर की नदी—माता गंगा—की पवित्रता के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा एक प्रकार से एक आवश्यक प्रतिकार का प्रतीक बन गई। बैक्ट्रिया के उन तुखारों की शक्ति जो कि शासक थे आज भी अत्यधिक थी। वे ऐसे प्रबल शासक थे जिनके पास बहुत अधिक रक्षित सेना एकत्रित थी और वह सुरक्षित शक्ति मध्य एशिया में रहती थी जहाँ से समय-समय पर उनके सैनिकों के बड़े-बड़े दल बराबर आया करते थे। यद्यपि हुविष्क के काल तक इनका सम्बन्ध मध्य एशिया के पुरातन स्थान से उतना अधिक

नहीं रह गया था फिर भी इनकी जन-धन सम्बन्धी शक्ति, देश में प्रभाव और साम्राज्य का बल अत्यधिक था। जनता के हृदय में कुशनों के लिए श्रद्धा का तो सर्वथा अभाव था, किन्तु भय था ही अतः दुर्बल जनता स्वयं जनशक्ति, अपनी शक्ति, से सर्वथा अपरिचित थी। ऐसे समय में संन्यासी शंखचूड़ और भवानी का अवतार अत्रिवंश की कुल-वधु ने देवी नाम धारण करके जन-जन के हृदय से कुशनों के भय को न्यून करना तथा उनमें अदम्य साहस भरना आरम्भ किया। उनका न तो कोई स्थान ही था और न समय ही अपितु समस्त उत्तराखण्ड में घूम-घूमकर प्रचारमात्र ही उनका कार्य था। कुशन क्षत्रप महाक्षत्रप यहाँ तक कि सम्राट् भी यह तो जानते थे कि कुल्लेक व्यक्ति इस प्रकार का प्रचार कर रहे हैं, किन्तु उन्हें वह किसी प्रकार भी पकड़ नहीं पाते थे। शंखचूड़ की चतुरता से हर बार फन्दे के निकट तक पहुँचकर भी वह निकल ही जाते थे। गुप्तचरों द्वारा इन सात-आठ व्यक्तियों को एक दूसरे के समाचार मिल ही जाते थे, अन्य किसी को सूचना तक न होती थी।

वत्सवंश भारत का एक अत्यन्त प्राचीन राजवंश था। शिवनन्दी के पराभव और अन्तिम युद्ध में वत्सवंश के सात राजाओं में से एक भी जीवित नहीं बचा। अन्य तो सब ही रानियाँ सती हो गईं। एक रानी सुदूर दक्षिणात्य में पितृगृह गई हुई थी। वह गर्भवती थी। यहाँ के समाचार पाकर वह वहाँ न रह सकी। नन्हे-से पुत्र को लेकर लौट आई। भयंकर प्रतिशोध की इच्छा हृदय में लेकर कठिनाई से वंश के कुल्लेक पुराने भक्तों की सहायता से वत्सवंश के प्रासाद के निकट ही साधारण से घर में रहकर समय व्यतीत करने लगीं। बालक भीषण प्रतिशोध की भावनाएँ लेकर बढ़ने लगा।

सोलह वर्ष के बालक ने थोड़ी-सी सेना एकत्रित करके प्रासाद

और नगर पर तो अधिकार कर लिया, किन्तु वह अपनी शक्ति अधिक नहीं बढ़ा सका। अल्पायु में ही युद्ध-क्षेत्र में उसकी मृत्यु हो गई। कठिनाई से ही वह बाईस वर्ष का रहा होगा। अठारह वर्ष की वत्स-वधु बालकों को मातामही की गोद में डालकर पति का शीश लेकर चिता पर चढ़ गई। मातामही ने अपने जीवन के इतिहास की पुनरावृत्ति की। वही दोनों बालक बाल्यकाल से ही देश की स्वाधीनता और कुशनों के सर्वनाश के स्वप्न देखते हुए युवक हुए। वही दोनों राजवत्स और श्रीवत्स हैं। सत्तर वर्षीया मातामही से आज भी प्रेरणाएँ लेकर वह कुशन साम्राज्य के नष्ट करने की योजनाएँ बना रहे थे। इसी बीच नगर में एक संन्यासी एवं तेजस्विनी देवी के प्रादुर्भाव की चर्चा होने लगी। इन दोनों भाइयों को युद्ध-चर्चा में धर्म-चर्चा से अधिक आनन्द आता था। अतः इन्होंने उस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। कुछ दिन यूँ ही बीते।

एक दिन वट्टा मातामही ने राजवत्स से इन संन्यासी द्वै के दर्शनों की इच्छा प्रकट की। स्वयं राजवत्स जाकर उन दोनों को भोजन का निमन्त्रण दे आया। दर्शन हुए, भोजन हुए और उससे कुछ अधिक भी हुआ। जाने से पूर्व अन्य व्यक्तियों ने प्रथानुसार संन्यासी महाराज के तथा देवी के चरण स्पर्श किये, किन्तु उसी दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में संन्यासी तथा देवी गुप्त रूप से प्रासाद में फिर आये। इस बार मातामही, श्रीवत्स, राजवत्स और इन दोनों की गुप्त मन्त्रणा होती रही। अन्त में मातामही ने कहा—“शंखचूड़, तुम्हारे पिता के किसी दिन भी दर्शन नहीं किये थे, किन्तु एक दिन उनकी कीर्ति अवश्य सुनी थी। यदि वह आज जीवित होते तो आयु में मेरे समकक्ष अथवा कुछ बड़े ही होते। आज वह नहीं हैं किन्तु उनके स्थान से, तुम्हारी माता के स्थान से और असंख्य देशवासी माता-पिता के

स्थान से मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ कि तुम अपने ध्येय के पूरण करने में सफलता प्राप्त करो। शंकर तुम्हारे साथ हैं। और बेटी ! तुम्हें क्या कहूँ ?”

वृद्धा युवती के संन्यासी-वेश, सूनी माँग और पूर्व-कथा देख-सुनकर कहती भी क्या ?

उन्होंने फिर कहा—“एक दिन अतीत सुदूर अतीत में पचास लगभग पचास वर्ष पूर्व मेरे प्राण मुझ से छीन लिये गये थे। इसी माँ गंगा के तट पर उन्होंने शत्रुओं के साथ युद्ध करते हुए प्राण दिये थे। मैं उस समय अग्नि-रथ पर चढ़कर उन तक पहुँच सकती थी, किन्तु मैंने वैसा नहीं किया। इन दो बालकों के पिता को गोद में लेकर अनेकानेक कष्ट केवल इसी आशा से सहती रही हूँ कि देश का भाग्य-सूर्य फिर उदय होगा और...” उनका कण्ठावरोध स्पष्ट दिखाई देता था। वह भावातिरेक से तनिक देर मौन हो गई। फिर उन्होंने कहा—“आज पति भी नहीं हैं, पुत्र भी नहीं है, पुत्र-वधु भी नहीं है किन्तु यह दो बालक देश की भेंट हैं। तुम इन्हें धर्म-युद्ध में लगा लो। एक बार यदि मृत्यु से पूर्व देश को स्वतन्त्र देख सकी, वत्स प्रजातन्त्र की पुनर्स्थापना देख सकी तो मैं धन्य हो जाऊँगी अथवा परलोक में भी मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।”

शंखचूड़ और देवी ने भक्तिभाव से मातामही के चरण छुए। शंखचूड़ ने भक्तिपूर्वक कहा—“माँ ! जिस देश में आज भी तुम सरीखी माताएँ हैं वह क्या कभी चिरकाल तक परतन्त्र रह सकता है। तुम्हारे अश्विनीकुमार द्वै विजयी होकर, माँ की परतन्त्रता की बेड़ियाँ काटकर ही लौटेंगे। माँ ! देश पराधीन नहीं रहेगा, नहीं रहेगा।” सबके चले जाने पर वृद्धा ने असहाय की भाँति अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा—“हे शिव ! हे त्रिभुवन-पालक ! मैंने यावज्जीवन तुम्हारी पूजा की है। हे शंकर ! अपना तीसरा

नेत्र खोलकर अब तो शत्रुओं को भस्म कर दो, उनका तेज हर लो पीनाक पाणि !” और उनकी दोनों आँखों से आँसू मर रहे थे । वह व्याकुल हृदय से बार-बार कह उठती थीः—

चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ।

चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर चन्द्रशेखर रक्षमाम् ॥

सारी रात्रि इसी प्रकार व्यतीत करके प्रातः वृद्धा ने शिव-मन्दिर में जाकर केवल यही कहा—“त्रिशूलपाणि ! मेरे दोनों बालक धर्म-युद्ध में विजयी होकर लौटें।” उन्हें लगा कि शिव ने उनकी प्रार्थना सुन ली ।

राजवत्स और श्रीवत्स ने सैन्य संग्रह करना आरम्भ कर दिया । कोष तो था ही नहीं धन की भी उतनी सुविधा नहीं थी । फिर भी युवक सैनिक बनने आ रहे थे । भल्ल और शूर अपने सैनिकों को अपने ढंग से तो तत्पर कर सकते थे, किन्तु इन नागरिक सैनिकों के अस्त्र-शस्त्रादिक का प्रबन्ध उनके वश की बात नहीं थी । कभी-कभी यह लोग अपने कुछेक साथियों को लेकर इधर-उधर छोटे-मोटे शक प्रान्तों में लूट-पाट करके भी बहुत-कुछ ले आते थे । किन्तु उससे समस्या हल नहीं हो पाती थी । शंखचूड़ और देवी भी इस विषय में सहायता नहीं कर सकते थे । महाराज कीर्तिप्रभु के पास कुछ वैभव आज भी शेष था, किन्तु वह स्वयं अज्ञात थे । कोई हल निकल ही नहीं पा रहा था । कान्तिदत्त के पास हजार दो-हजार सैनिक तो थे, किन्तु वह उन्हीं को लेकर अधिक सैन्य संग्रह में प्रयत्नशील थे अतः उनसे भी कुछ सहायता की आशा नहीं थी । अत्यधिक चिन्तित यह दोनों भाई अपने विश्वस्त पन्द्रह साथियोंसहित धन-संग्रह करने का निश्चय करके सुदूर पूर्व दिशा की ओर चले । पूरा एक पक्ष इधर-उधर भटकते रहने पर भी जनता की सहानुभूति, सहयोग का आश्वासन तो प्राप्त किया, किन्तु शस्त्रादिक की समस्या हल नहीं हुई ।

घसी निराशा और उदासी से यह लोग पथ पर चल रहे थे कि इन्हें राजपथ से कुछ ही दूर एक टूटा-फूटा मन्दिर का खण्डहर-सा दिखाई दिया। श्रीवत्स ने भाई से कहा—“भैया ! चलो तनिक देर पूजा ही कर लें। विश्वास भी हो जायगा, और यहाँ साधारणतया किसी के आने का भी भय नहीं है। यूँ पचास-साठ के लिए तो हम भी पर्याप्त हैं।”

“चलो।” राजवत्स ने थकित कण्ठ से कहा। राजपथ से हटकर यह दल मन्दिर की ओर चला। पथ कण्टकाकीर्ण था। जान पड़ता था कि वर्षों से कोई उधर आया ही नहीं है। मन्दिर के निकट पहुँचकर इन्हें अचानक भाड़ियों में सरसराहट-सी सुन पड़ी। कोई वन्य-पशु होगा यही सोचकर किसी ने उधर ध्यान नहीं दिया। अश्व छोड़कर सब लोग मन्दिर के निकट आये। अश्व घास चरने लगा। एक व्यक्ति उनकी देख-रेख के लिए रह गया। मन्दिर के भीतर स्थान बहुत ही थोड़ा था। माँ काली की प्रतिमा की अद्भुत स्वच्छता और उस छोटे से प्रकोष्ठ की स्वच्छता देखकर यह लोग आश्चर्यचकित रह गये।

“यह मानव का कार्य है अथवा देव का ?” आश्चर्य से सैनिकों में से एक ने पूछा।

“जान तो पड़ता है मानव का ही, किन्तु मानव इन भाड़-खण्डों को पार करके यहाँ आया कैसे ?”

तनिक विश्राम के पश्चात् दोनों भाइयों ने काली-पूजा की। अन्त में दोनों डबडवाई आँखों से माँ काली की ओर देखने लगे। राजवत्स कह रहे थे—“माँ ! तुम्हारे रहते इतना अन्याय ! इतना अत्याचार ! माँ ! इसका निवारण करो। हम तुम्हारे सेवक हैं, शस्त्र-धारी हैं माँ ! हमें सेवा करने की सुविधाएँ तो जुटा दो। गौ-ब्राह्मण की रक्षा का प्रबन्ध कर दो माँ ! ” निरन्तर बहने वाले नेत्रों सहित प्रार्थना समाप्त करके जब दोनों ने घूमकर देखा तो खण्डहर सरीखे

मन्दिर के द्वार पर एक अनुपम सुन्दरी साधारण-सी भीगी साड़ी पहने हाथ में एक दौने में कुछेक पुष्पादिक लिए खड़ी है। उसका अनिष्ट सौन्दर्य देखकर दोनों भाई समझे कि स्वयं देवी ही अवतीर्ण हो गई हैं। अन्यथा इतना रूप इस स्थान पर अचानक कैसे आ जाता। दोनों ने भक्तिभाव से साष्टांग प्रणाम किया। विशालाक्षी अपनी नित्य की पूजा करने आई थी। बाहर कुछ अश्व देखकर कुछ भयभीत हुई फिर—चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः—का ध्यान कर पूजा किये बिना लौट न सकी। सैनिक मन्दिर के पिछवाड़े विश्राम कर रहे थे। कोई मन्दिर के भीतर भी होगा—यह आशा उसे नहीं थी। नीलकण्ठ का ध्यान करके तीव्र विष अंगिया में छिपाये वह निर्भय थी। इन दोनों को इस प्रकार भक्तिपूर्वक प्रणाम करते देखकर वह तनिक-सा हँसी। जैसे ही यह उठे, उसने कहा—“गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिए चिन्तित व्यक्तियों का क्या मैं परिचय पा सकूंगी ?”

कण्ठ-स्वर की मधुरता अद्वितीय थी। यह दोनों स्तम्भित थे। उसने स्वयं ही फिर कहा—“मैं माँ की एक सेविका हूँ। पिछले अनेकों वर्षों से मैंने निरन्तर माँ की सेवा की है। आप कौन हैं भाई ?” अब इनकी समझ में आया कि वह मानवी ही थी देवी नहीं। इतना अलौकिक रूप सो भी मानवी में दोनों ही आश्चर्यचकित थे। विशालाक्षी ने फिर कहा—“तुम कोई भी क्यों न हो, माँ के भक्त हो, शस्त्रधारी हो। नहीं जानती कि सेवा करने की कौनसी सुविधाएँ चाहते हो किन्तु...” वह तनिक मौन हो गई। अब राजवत्स ने कहा—“माँ ! हम दोनों भाई शंकर के सेवक हैं। नहीं जानते कि आप कौन हैं, किन्तु हमारे लिए तो देवी ही का रूप हैं। देवी की ही कृपा से आपके दर्शन हो गये। क्या आपका परिचय नहीं मिलेगा ?”

युवती क्षणिक को द्विचकिचाई फिर जान पड़ा कि उसने

अन्तर्द्वन्द्व पर आधिकार करके गौरवपूर्ण स्वर में कहा—“मैं अतीत के उत्तराखण्ड के सुप्रसिद्ध भालवंश की वधु हूँ। आज हमारे वैभव के दिन नहीं रह गये हैं, किन्तु आज भी हमें अपने वंश की पवित्रता पर अभिमान है।” वह अपनी पूरी ऊँचाई में तनकर खड़ी थी। अचानक दोनों भाइयों ने साथ ही चिल्लाकर कहा—“देवि ! भाभी ! चन्द्रभाल की पत्नी !” पति का नाम सुनकर विशालाक्षी को क्षणभर का जान पड़ा कि वह मूर्छित ही हो जायगी, किन्तु उसने तुरन्त ही संयमित होकर कहा—“आप कौन हैं भाई ?”

राजवत्स ने कहा—“हम दोनों भाई अतीत के प्रजातन्त्रीय राज्य के वत्सवंशीय सेवक हैं।”

विशालाक्षी का हृदय उछल रहा था चन्द्रभाल की कुशलवार्ता जानने को, किन्तु उसने संयम करना सीखा था। मन-ही-मन उसने कहा—‘रे हृदय ! तनिक ठहर तो। उनका समाचार भी मिलेगा। वह कुशलपूर्वक तो हैं ही।’ स्वर में तनिक-सी नारी-सुलभ सरसता भरकर उसने कहा—“तुम्हारी भाभी तो मैं हुई वत्स राजकुमारो ! क्या भाभी का आतिथ्य स्वीकार करोगे ?” कुछ ठहरकर उत्तर पाने से पूर्व ही उसने कहा—“किन्तु भाभी का आतिथ्य आज तो एक दरिद्रा का ही आतिथ्य होगा।”

“आज उत्तराखण्ड के सब ही देशभक्त, स्वाभिमानी, आर्य राजवंश दरिद्र हैं भाभी ! किन्तु विचित्र मानसिक और आध्यात्मिक वैभव को वह आज भी हृदय में निहित सुरक्षित रखे हुए हैं ! वैसा वैभव विश्व-ब्रह्मांड में और कहीं मिलेगा ही नहीं। आप पूजा कर लें हम आपके प्रासाद में चलेंगे।” गम्भीरता से राजवत्स ने कहा।

प्रासाद शब्द सुनकर विशालाक्षी को हँसी आ गई, किन्तु वह चुपचाप पूजा करने मन्दिर के भीतर चली गई। दोनों भाई अपने

अन्य साथियों के पास जा पहुँचे। निश्चय यही हुआ कि सब ही लोग भालवंश के स्थान पर ही रात्रि-निवास करें। दो घड़ी के बीच ही विशालाक्षी लौट आई। पूजा हो चुकी थी। सब लोग साथ-साथ पैदल ही चले। अश्व साथ ही में थे। प्रासाद के निकट पहुँचकर विशालाक्षी ने कहा—“भाई ! यही मेरा आवास-स्थान है।” सबने उस विशाल खण्डहर की ओर देखा। कहीं भी तो सिर छिपाने को स्थान न था। स्थान-स्थान पर प्रस्तर-मलबे आदि के विशाल पुंज थे। वह कह रही थी—“तुम लोगों को कष्ट तो होगा, पर छत-विहीन प्रकोष्ठ में भव्य प्रासाद की कल्पना कर सकोगे ?”

“भाभी ! कष्ट-सहन की बात सैनिक को कहना नहीं होता है। फिर यह तो हमारा परम् सौभाग्य है कि आर्य चन्द्रभाल के परिवास के साथ रात्रि व्यतीत करेंगे। भाई चन्द्रभाल तो ” श्रीवत्स कह रहे थे। राजवत्स ने बीच ही में बात काटकर कहा—“कुशलपूर्वक हैं।” विशालाक्षी कुछ उदास हो गई। राजवत्स ने यह देखा, किन्तु रहस्य की बात कही नहीं जा सकती थी। निकट आकर विशालाक्षी ने सैनिकों की ओर देखकर एक छत-विहीन बहुत बड़े किन्तु भयानक खण्डहर जैसे भवन की ओर इंगित करके कहा—“एक समय यह खण्डहर भालवंश का सभा-भवन था। आप लोग उसी कल्पना के सहारे यहाँ विश्राम करें। देखती हूँ कुछ भोजनादि का प्रबन्ध हो सकता या नहीं।” उनके स्वर में व्यंग्य था किन्तु उससे भी अधिक थी वेदना, पीड़ा और कटुता।

सैनिक वहीं ठहर गये। रमणी ने फिर दोनों भ्राताओं की ओर देखकर कहा—“सुप्रसिद्ध भालवंश का ऐश्वर्य तो देखा, अब क्या महाराज गिरिभाल का प्रताप देखोगे ?” रमणी के स्वर की कटुता, तिक्तता बढ़ती जा रही थी, किन्तु उसके व्यंग्य में सरसता भी थी। अनेकों वर्षों पश्चात् वह मनुष्यों, अतिथियों और वह भी

सुमधुर देवर सम्बन्धवान् अतिथियों से बात कर रही थी। जहाँ एक ओर पति के कुशल-समाचार ने उसके मन-प्राण में आनन्दो-ल्लास भर दिया था वहीं गत वैभव की स्मृति, पति-वियोग और अपनी अतिथि-सत्कार सम्बन्धी विवशताओं ने उसके मन को कटुता से भर दिया था। दोनों का एक विचित्र सम्मिश्रण उनकी वाणी में प्रतिध्वनित हो रहा था।

“क्या परम्पूजनीय आर्य गिरिभाल अभी जीवित हैं ?” बहुत आश्चर्य से दोनों ने पूछा।

इस बार रमणी का स्वर तनिक श्रद्धा से भर उठा—“वह जीवित हैं भाई और उस समय तक जीवित रहेंगे जब तक कि इस आर्यावर्त से मलेच्छ-राज्य समाप्त नहीं हो जायगा।”

“तब चलिये, उनके दर्शन करें।”

“चलो।” कहकर वह लोग चले। भवन के एकमात्र तनिक ठीक प्रकोष्ठ के सम्मुख ठहरकर रमणी ने कहा—“मैं उन्हें समाचार दे दूँ।” दोनों वहीं ठहर गये। विशालाक्षी ने भीतर जाकर वृद्ध को पुकारा—“पिता जी !”

“बेटा !”

“द्वार पर वत्सवंश के अतिथि खड़े हैं। आपके दर्शन करना चाहते हैं।”

“कौन ?” वृद्ध शक्तिहीन होते हुए भी उठकर बैठ गये। उन्होंने दोनों हाथ फैलाकर कहा—“बेटा ! क्या कहा वत्सवंश... प्राचीन राजवंश, वत्सवंश, कहाँ है ? क्या आज आर्यावर्त स्वतन्त्र हो गया...ओह कहाँ हो आर्य शिवनन्दी...कहाँ हो ? शिववत्स तुम कहाँ हो ?...” आनन्दातिरेक से वह बिछौने पर गिर पड़े।

विशालाक्षी ने तनिक भय में उन्हें ठीक करके कहा—“पिता जी ! वह आ जायँ ?”

“हाँ, हाँ उन्हें शीघ्र लाओ। मेरे लिए तो वह चन्द्र-सरीखे

ही हैं। वह कहाँ हैं बेटा ?...ओह ! आज पचास वर्ष पश्चात् इस वृद्ध असहाय को भी वत्सवंश के...” उन्हें खाँसी आने लगी।

विशालाक्षी ने पास रखे पात्र से उन्हें जल दिया। तत्पश्चात् दोनों वत्स-कुमारों को भीतर बुला लाई। वत्स-कुमारों ने अत्यन्त श्रद्धा से वृद्ध के चरण छुए। वृद्ध ने दोनों को हृदय से लगा लिया।

“माँ भागीरथी के तट पर आज से पचास वर्ष पूर्व ऐसा लगा था कि भारत का भाग्य-सूर्य अस्त होते-होते शिववत्स का वंश भी लोप हो जायगा, किन्तु धन्य हो तुम देवादिवेव महादेव ! आज पचास वर्ष पश्चात् इन वृद्ध नेत्रों से कैसा आनन्दमय दृश्य देख रहा हूँ...सुना तो था कि शिववत्स की पत्नी सती नहीं हुई, किन्तु उनकी सन्तान सम्भवतः तुम्हारे पिता भी तो तीस वर्ष पूर्व मेरे पार्श्व भाग में युद्ध करते-करते ही हत हुए...शिववत्स की पत्नी...” वह मौन हो गये।

राजवत्स ने कहा—“मातामही की छत्रछाया आज भी हमारे शीश पर है, प्रभो !”

“धन्य हो, धन्य हो शंकर !” वृद्ध ने आकाश की ओर दोनों हाथ उठाकर कहा। साथ ही दोनों युवकों को अपनी ही शैया पर बैठा लिया। वृद्ध की गत तीस वर्ष की मूक वाणी आज शत मुख से मुखरित हो उठी थी। दोनों युवकों का हृदय गद्गद् हो रहा था तथा रह-रहकर नयनों से जल बह रहा था।

विशालाक्षी उन्हें छोड़कर दूसरे प्रकोष्ठ में चली गई। प्रमदा अवाक् खड़ी सारा दृश्य देख रही थी। विशालाक्षी ने प्रमदा की ओर देखकर कहा—“गृहलक्ष्मी ! अब सत्ताईस अतिथियों के भोजन का प्रबन्ध करो।”

प्रमदा को चेत हो आया। उसने तनिक हँसकर कहा—“राज्य-लक्ष्मी की आज्ञामात्र होनी चाहिए। गृहलक्ष्मी अभी सब कुछ प्रस्तुत किये देती है।” विपत्तिकाल ने दोनों को अत्यधिक निकट

ला दिया था। विशालाक्षी ने इस बार तनिक डबडबाते हुए नयनों से कहा—“यह क्या अपना दुर्भाग्य ले आई हूँ प्रमदा ! एक समय भी अन्न तो जुटा नहीं पाते हैं और मैं भी ऐसी मूर्ख हूँ कि इतने व्यक्तियों को ले आई हूँ। अब क्या होगा प्रमदा ? जाऊँ कुछ मृगया करके ही ला पाऊँ तो....”

प्रमदा ने तनिक हँसकर कहा—“सम्माननीय अतिथियों को भालवंश का आतिथ्य क्या केवल माँस खाकर ही स्वीकार करना होगा ? अभी प्रमदा जीवित है, देवि ! आपने अपने वंश-गौरव के अनुरूप ही कार्य किया, किन्तु इसके लिए प्रमदा के जीवित रहते हुए आपको लज्जित नहीं होना पड़ेगा। घड़ी भर के भीतर ही लौटूँगी।” सुनकर विशालाक्षी काँप उठी, किन्तु कुछ कहने का साहस एकत्रित नहीं कर पाई। समझकर प्रमदा ने कहा—“देवि ! जो कुछ होगा आपके वंश की मर्यादा का ध्यान रखकर ही किया जायगा। आप निश्चिन्त रहें। सम्भवतः आप जानती ही होंगी आपके श्वसुर के ऋणी सेठ दामोदर आज भी नगर में ही हैं।”

“उनके आगे भालवंश हाथ फैलायेगा क्या ?”

“नहीं, ऋण का एक अंश लेगा।”

“ऋण, वह आज स्वीकार कर सकेंगे ?”

“आप मानती नहीं हैं। सेठ दामोदर से बढ़कर भक्त आपके श्वशुर का आज विश्व में कहीं नहीं होगा। आज दिन तक आपकी आज्ञा मानकर ही उन्हें आपके समाचार नहीं दे सकी हूँ, अन्यथा आप क्या ऐसी अवस्था में रहतीं ?”

“तब आज भी रहने दे।” कुछ सोचकर विशालाक्षी ने कण्ठ से एक पतली सूत-जैसी मोतियों की कण्ठी उतारकर प्रमदा को देकर कहा—“यह ले जा, इसी से काम चला।” प्रमदा के नयन भर आये। सुहागरात को यही कण्ठी विशालाक्षी के स्वामी ने उसे दी थी, यह बात स्वयं वही प्रमदा को बता चुकी थी। दुर्दिन में

भी कभी विशालाक्षी ने उस कण्ठी को अपने कण्ठ से प्रथक् नहीं किया था। प्रमदा ने कुछ सोचकर कण्ठी लौटाते हुए कहा—“देवि ! इस मूल्यवान् आभूषण को लेकर पर्यशाला में घूमना मेरे लिए कठिन है। दासी के हाथ में मूल्यवान् भूषण और सो भी विक्रयार्थ देखकर उसे चोर कहते देर ही कितनी लगेगी। आभूषण तो हाथ से जायगा ही राजदण्ड भी मिलने की संभावना है, अतः इसे न ले जा सकूंगी। भोजन का प्रबन्ध हो जायगा। इसी नगर में मेरे भ्राता का घर है और वह पंसारी हैं। राजद्वार से बहुत कुछ पाया है। यह ऋण ही रहा।”

“अच्छा, यह उनका ऋण रहा। उनका क्या तेरा ही ऋण है। प्रमदा तू उस जन्म की मेरी माँ है।” कहकर विशालाक्षी रो दी। प्रमदा ने उनके चरण छूकर कहा—“देवि ! आशीर्वाद दीजिये कि जन्म-जन्मान्तर में आपकी दासी ही बनी रहूँ।” और वह चली गई। विशालाक्षी भूमि पर लोट गई। उसके नेत्रों से गंगा-यमुना की धारायें चल रही थीं—“हे शिव ! यह दिन भी दिखाना था। माँ काली क्या तुम स्वयं सती होकर भी मेरी परीक्षा ले रही हो ? मैं दुर्बल हूँ माँ, मेरी रक्षा करो, रक्षा करो।”

विशालाक्षी इस प्रकार दुःखी होकर भगवान् को पुकार रही थी और राजवत्स बड़े चाव से वृद्ध भालवंशी अनेकों युद्धों के साक्षी श्री गिरिभाल को अपने निश्चय और कार्य-कलाप सुना रहे थे। वृद्ध अशक्त गिरिभाल बालकों के-से चाव और उत्साह से वत्स-भ्राताओं की बातचीत सुन रहे थे। बीच-बीच में प्रश्न भी करते जाते थे। जान पड़ता था कि उनके राग, शोक और निराशा का स्थान नव उत्साह एवं नवीन आशा ने ले लिया है।

अचानक अपूर्व उत्साह से श्रीवत्स ने कहा—“यदि हमारे पास कोई भी साधन शस्त्रादिक एकत्रित करने का होता तो हम लोग....”

वृद्ध ने बच्चों की भाँति जिज्ञासा की—“केवल शस्त्र...यदि तुम्हें शस्त्र मिल जायँ, बहुत से मिल जायँ...”

“आर्य ! कहाँ से मिल जायँगे ?” वृद्ध की-सी असाधारण गम्भीरता से राजवत्स ने पूछा ।

वृद्ध ने कहा—“तुम दोनों मिलकर मुझे उठाओ तो । तनिक उठाकर खड़ा करो । दोनों भाई आश्चर्य से एक दूसरे का मुख ताकने लगे । वृद्ध ने फिर कहा—“आज अनेकों वर्षों से वहाँ नहीं गया, किन्तु सम्भवतः जा सकूँगा मुझे उठाओ, देखूँ चल सकता हूँ कि नहीं...बेटा विशाला ! कहाँ हो ? आओ तो ।” विशालाक्षी ने शीघ्रता से अश्रु-चिह्न मिटाकर प्रवेश किया । दोनों भाई वृद्ध को सहारा देकर उठा रहे थे ।

विशालाक्षी ने आश्चर्यचकित हाक पड़ा—“यह क्या ? आप कहाँ जायँगे पिता जी ?”

“बेटा, तुरन्त दीपक लेकर हमारे साथ चलो तो ?” वृद्ध की वाणी में चांचल्य था ?

“दीपक ? अभी तो प्रकाश भी है ?”

“नहीं, इस प्रकाश से काम नहीं चलेगा ?”

विशालाक्षी दीपक लेकर आ गई । दोनों युवकों का आश्रय लेकर वृद्ध खण्डहर के एक अपेक्षाकृत एकान्त किन्तु स्वच्छ भाग की ओर चले । कुछ दूर जाने पर एक साधारण-सी सर्प की प्रतिमा दिखाई दी ।

वृद्ध ने विशालाक्षी का आश्रय ले लिया । और युवकों से कहा कि वह सर्प को तनिक खिसका दें । सर्प की शिला कुछ शक्ति लगाने पर खिसक गई, किन्तु भीतर से अतीव दुर्गन्ध-युक्त वायु का भोंका आया । वृद्ध ने दोनों युवकों को भीतर भाँकने से रोका । तनिक देर पश्चात् श्रीवत्स दीपक लेकर सर्प-शिला के नीचे के अन्धकारपूर्ण गर्त में उतरने लगा । उसके

पीछे राजवत्स की पीठ पर लदे आर्य गिरिभाल और उनके पीछे विशालाक्षी चली। कुछ दूर तक तो दुर्गन्ध-युक्त सुरंग ही थी जहाँ स्थान-स्थान पर मानव के आगमन से भयभीत पशु-पक्षी इधर-उधर भागने लगे थे। लगभग आधी घड़ी चलने पर सब लोग एक तल-गृह में पहुँच गये। वहाँ कहीं से क्षीण-सा प्रकाश भी आ रहा था। सीलन और दुर्गन्धि तो थी ही, मानव के प्रयोग में न लाने पर अन्य प्राणियों ने उसे वास-स्थान भी बना लिया था जो कि मानव के इस अचानक आक्रमण से भयभीत होकर इधर-उधर भागने में संलग्न थे। नेत्र उस अर्द्धअन्धकार-पूर्ण स्थान के दीपक द्वारा प्रकाशित होने पर भी अभ्यस्त न होने के कारण वहाँ कुछ भी नहीं देख पाते थे। तनिक-सा अभ्यस्त होने पर श्रीवत्स ने देखा कि स्थान पर्याप्त बड़ा है और भाँति-भाँति के शस्त्रास्त्रों से ठसाठस भरा हुआ है। आश्चर्यमिश्रित आनन्द से वह चिल्ला उठा—“ओह !”

विशालाक्षी आश्चर्यचकित हो रही थी। उसका और राजवत्स का आश्रय लेकर खड़े वृद्ध उसी वर्षों की गन्दगी और सीलन से भरी धरती पर बैठ गये। उन्होंने कहा—“मेरे बच्चो ! यह भालवंश के वैभव-काल की स्मृति है जो धरती के गर्भ में अनन्तकाल तक सम्भवतः दबी ही रह जाती। चन्द्रभाल को इसके उपयोग का अवसर नहीं मिला। मैं उसे बता भी नहीं सका। ओह ! उस समय तो वह निरा बालक ही था, और यह हमारा गुप्त शस्त्रालय था। देश के स्वतन्त्रता के युद्ध में इसका उपयोग हो, इससे बढ़कर मेरा सौभाग्य और क्या होगा वह... वह उस कोने में ढँगा खड्ग उतारो तो यह मुझे आर्य शिवनन्दी ने बंग युद्ध में प्रदान किया था, यह उनका निजी अस्त्र था। ओह, आज यह वर्षों पश्चात् मुझे मिला है... मेरे चिर-प्रिय मित्रो ! मैं तुम्हें विस्मरण नहीं कर सका था, किन्तु देश भर में निराशा छा गई थी। तुम्हारा

मूल्याङ्कन ही कहाँ हो पाता था ? आज देश का भाग्य-सूर्य उदय होता जान पड़ता है । आज...आज..." अप्रत्याशित श्रम से वृद्ध की देह काँप रही थी । अब विशालाक्षी ने माँ की-सी ममता से कहा—“पिता जी ! बहुत हुआ अब चलिये, ऊपर चलें ।” फिर तनिक मधुरता से राजवत्स और श्रीवत्स की ओर देखकर बोली—“यह कैसे अतिथि मैं आज ले आई हूँ जिन्होंने न केवल मेरे पिता और मेरा घर ही मुझ से छीन लिया वरन् मेरे श्वसुर का समस्त वैभव ही अपना बैठे ।” स्वर इतना दबा था कि वृद्ध नहीं सुन सके ।

श्रीवत्स ने तनिक कौतुक से कहा—“वाह भाभी, दो देवर मिल गये तो धाते में ।”

उत्तर भी दबे स्वर में ही था । आनन्दातिरेक में सबके हृदय उछल रहे थे । राजवत्स और श्रीवत्स मन-ही-मन कह रहे थे—‘तू धन्य है शंकर, कैसा संयोग जुटाया है ।’

विशालाक्षी और वृद्ध गिरिभाल के लिए तो मानो नवजीवन का प्रभात-काल ही आ गया था । ऊपर आकर वृद्ध बिछौने पर लेट गये, किन्तु रह-रहकर श्रीवत्स एवं राजवत्स से कहते थे—“बेटा ! इस बार युद्ध में मैं अवश्य चलूँगा । मुझे अश्व पर एक बार बिठा देना ।” प्रमदा के लौटकर भोजन का समाचार देने तक वृद्ध युद्ध और तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करने में ही मग्न थे । दोनों युवक वृद्ध का उत्साह देखकर आश्चर्यचकित हो रहे थे ।

अपूर्व मिलन

“गुरुदेव ! अब तो आज्ञा दीजिये, प्रभो !” महाराज नवनाग का स्वर काँप रहा था । किन्तु उसमें गाम्भीर्य प्रचुर मात्रा में था ।

“समय निकट ही है, पुत्र ! प्रतीक्षा करो ।”

“गुरुदेव ! मलेच्छों के अत्याचार और अधिक देखे-सुने नहीं जाते । आपकी आज्ञा पाकर मैं दो वर्ष उत्तराखण्ड भी अज्ञात अपरिचित यात्री के रूप में घूमा । कौशाम्बी, काशी सब ही कहीं मानव की मानव द्वारा की जाने वाली दुर्गति देखी, गुरुदेव ! अब आज्ञा दीजिये कि या तो भारत-भूमि को आर्य-गौरव से भर दूँ, मलेच्छ-भार से मुक्त कर दूँ और या फिर मैं भारत को अपने ही भार से मुक्त कर दूँ ।”

“पुत्र ! इतनी शीघ्रता की आवश्यकता होती तो क्या मैं यूँ ही बंठा रहता । तुम्हें उत्तराखण्ड में भेजा था अनुभव प्राप्त करने । मेरे चर प्रायः उत्तराखण्ड के सब ही स्थानों में गये हुए हैं उन्हें लौटने दो । यदि अब शिव स्वयं ही भार लेना चाहते हैं तो अपने भक्तों को अवसर देंगे । उत्तर भारत से पुकार होते ही तुम्हें जाना होगा ”

“पुकार कब और कैसे होगी गुरुदेव ? इससे अधिक कठिन कल और कौनसा होगा प्रभो ? भाई को जाने दीजिये, मैं गंगा के वनस्थल पर...” अग्नि भयंकर अग्नि से जले हुए-से शब्दों में कह उठी नवदेवी । गुरुदेव ने सस्नेह नवदेवी की ओर देखकर कहा—“बेटी ! तेरे मन-प्राण की पीड़ा को समझता हूँ ।

यह भी जानता हूँ कि एक दिन प्रभु ने सम्भवतः अनजाने ही तेरे हृदय के स्थान पर रख दिया था अग्नि-पुंज और उसमें केवल एक ही प्रकार का प्रकाश था, एक ही प्रकार की तिक्तता थी और वह थी देश-प्रेम...किन्तु बेटा ! आज पचास वर्ष के पश्चात् हमें देश से मलेच्छों को भगाना है, अतः जन-शक्ति को साथ लिये बिना तो सफलता अनिश्चित ही होगी और आज हम देश के भाग्य के साथ परीक्षण नहीं कर सकेंगे। समय ही नहीं है, अतः जन-शक्ति के बल पर ही मलेच्छों को खदेड़ने के प्रयत्न करेंगे।”

“गुरुदेव ! आपका कथन सत्य है, किन्तु मैं तो अब और अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकती। गुरुदेव ! सिंह मृग को उदरस्थ कर जाता है, यह स्वाभाविक है किन्तु जब सिंह सिंह को और मृग मृग को चवाना आरम्भ कर देगा तब सृष्टि में प्रलय ही आ जायगा। मलेच्छ, शक...तुलार यदि भारतवासियों पर अत्याचार करते हैं, तो वह उतना अधिक असह्य नहीं हो जाता जितना कि स्वयं इसी देश में जन्म लेने वाले व्यक्ति केवल उनके ईर्षित पर बौद्ध बनकर भारतीयों पर करते हैं...यह अब और कब तक चलेगा और आप चलने देंगे। भइया की बाहु-द्वै में बल है उसकी परीक्षा होने दीजिये।”

“सो तो होगा और अवश्य होगा, किन्तु उनकी असंख्य सेना का सामना नागराज की मुट्ठी भर...”

“गुरुदेव ! क्षमा करें शिव के मुट्ठी भर गण ही विश्व भर के अन्यायों के जनकों को भूमिसात करने को पर्याप्त हैं, आप अवसर दीजिये।”

“गुरुदेव ! इसे क्षमा करें।...”

“नहीं पुत्र, सो बात नहीं है। मैं नवदेवी की पीड़ा को समझता हूँ। तुम्हारी दिवस-रात्रि की चिन्ता को भी जानता हूँ, और यह भी जानता हूँ कि सुदूर मध्य प्रदेश की पर्वत-शृंखलाओं

में घिरा हुआ भी मैं उत्तराखण्ड से पुकार की प्रतीक्षा जो कर रहा हूँ सो उचित ही है।”

“गुरुदेव !”

“बेटा ! अत्याचार का उन्मूलन होगा, और अवश्य होगा। गुप्तचर सचेत हैं। उत्तराखण्ड में स्वर्गीय महाराज शिवनन्दी के पार्श्व-भाग में खड़े होकर युद्ध करने वाले मालववंश के सूर्य आर्य कीर्तिप्रभु सम्भवतः आज भी जीवित हैं। यदि एक बार केवल एक बार वह नागवंश से मिल पाते... होगा, यह अवश्य होगा। विजयी अन्त में तुम्हीं होगे, किन्तु अवसर की प्रतीक्षा तो करनी ही होगी। मैं जानता हूँ, नवनन्दी तुम स्वयं भी देख आये हो। आज भी वाराणसी और कौशाम्बी के लोग नागवंश के प्रति भक्ति रखते हैं... शक्ति-संयम करने दो...”

इसी समय एक चर ने आकर सूचना दी कि एक वृद्ध एक युवक और एक बालिका के साथ गुरुदेव के दर्शन करना चाहते हैं। वह तीनों धूल से भरे हैं और देखने से बहुत दूर से आये हुए जान पड़ते हैं। गुरुदेव ने सिर हिलाकर आने की स्वीकृति दी। नगर के मध्य भाग में शिव मन्दिर था। साधारणतया जनता वहाँ बहुत अधिक संख्या में आया करती थी। मन्दिर के दक्षिण भाग में गुरुदेव का वासस्थान था। किन्तु बीच-बीच में गुरुदेव अर्द्ध रात्रि के लगभग पर्वत की कन्दरा में स्थित शिव मन्दिर में भी उपासना करने चले जाया करते थे। वह मन्दिर नगर से दूर पर्वतों के बीच था। आज गुरुदेव सन्ध्या-आरती के पश्चात् निजी वासस्थान पर ही थे कि नवनन्दी और नवदेवी दर्शनार्थ आ गये। तनिक देर पश्चात् ही तीनों थकित प्राणी इनके सम्मुख थे। उनमें से वृद्ध पुरुष ने गुरुदेव को प्रणाम करके कहा—“स्वामी जी ! वासार्थी हैं। आशा है मन्दिर में स्थान मिलेगा।”

“आसन ग्रहण कीजिये।” गुरुदेव ने सहज स्वर में कहा। वृद्ध गुरुदेव के उज्ज्वल तेजस्वी गौर मुख की ओर एकटक देख

रहा था। सहसा वृद्ध ने भावपूर्ण स्वर में चीखकर कहा—
“कौन त्रिलोच पंडित...नहीं...नहीं...तुम त्रिलोचन...तुम
त्रिलोचन पंडित...यह मैं क्या देख रहा हूँ ? क्या मेरी यह वृद्ध
आँखें...नहीं...नहीं...”

गुरुदेव उठकर खड़े हो गये। उन्होंने ध्यान से वृद्ध की ओर
देखकर कहा—“देव ! आप कौन हैं ? मैं त्रिलोचन पंडित का पुत्र
त्रिभुवन पंडित हूँ। आपके श्री-चरणों में ब्राह्मण होकर भी मैं
प्रणाम करता हूँ।” वृद्ध की भक्तमुख मुद्रा और श्वेत दाढ़ी देखकर
अनायास ही श्रद्धा हो आती थी। वृद्ध ने एकवारगी गुरुदेव को
अंक में भर लिया और उनके नेत्रों से अभ्रजल निरन्तर बहने लगा।
मखातिरेक से शब्द मुख में ही अटक गये। बालिका, युवक,
नवनन्दी और नवदेवी आश्चर्यचकित-से इस अद्भुत मिलन
को देख रहे थे।

कुछ स्वस्थ होकर वृद्ध ने कहा—“त्रिलोचन कहाँ है ? विराट
कहाँ है ? मैं उन्हें खोज रहा हूँ बेटा ! मुझे तुरन्त उनका पता दो,
वत्स !” गुरुदेव ने वृद्ध का हाथ पकड़कर उन्हें आदरपूर्वक अपने
आसन पर बिठाया। तत्पश्चात् पूछा—“देव ! क्या उत्तराखण्ड से
पधारे हैं ?”

“ओह ! अपना परिचय देना तो भूल ही गया, किन्तु तुम्हें
क्या परिचय दूँ बेटा ? मुझे ले चलो, शीघ्र ही ले चलो त्रिलोचन
पंडित पास। मेरा विराट तो तुम्हारा ही समवयस्क था वह
कहाँ है ? उनके पास ले चलो तो कहूँ कि कीर्तिप्रभु...”

“आर्य !” बीच में ही रोककर गुरुदेव, नवनन्दी और नवदेवी
चिल्ला उठे। गुरुदेव ने संयमित होकर कहा—“देव ! तनिक
शान्त हो लें तो कहूँ।”

“नहीं, नहीं, शीघ्र कहो। जान पड़ता है मैं आनन्दातिरेक से
विचित्र हो जाऊँगा।”

वृद्ध काँपते पगों से उठना चाहते थे कि गुरुदेव ने। बठा लिया, फिर धीरे-धीरे कहा—“देव ! त्रिलोचन पंडित आज विश्व में नहीं हैं।”

“हाय ! वृद्ध के मुख से निकला।

“आर्य विराट नन्दी भी अल्पावस्था में ही इन दो सन्तानों को छोड़कर गां-लोकवासी हो गये। यह आर्य नवनन्दी आज नाग साम्राज्य के स्वामी हैं और नवदेवी इस साम्राज्य की मन्त्र-दात्री देवी।” वृद्ध कीर्तिप्रभु ने पहले दोनों को बारी-बारी से हृदय से लगाया, फिर सामरिक रीति से नवनन्दी को खड्ग शिरस्त्राण से छुआकर प्रणाम करके कहा—“आज लगभग पचास वर्ष पश्चात् नागवंश के वंशज भारतवर्ष के सम्राट् नवनन्दी को मालव वंशधर कीर्तिप्रभु का प्रणाम स्वीकार हो।”

नवनन्दी ने पहले कीर्तिप्रभु का खड्ग, जो कि उनके चरणों में रखा गया था, उठाकर कीर्तिप्रभु के हाथ में दिया फिर नम्र भाव से उनके चरण छूकर कहा—“आप अनेकों युद्धों में मेरे पितामह के पार्श्व में खड़े होकर भाग लेते रहे हैं आर्य ! आपको नवनन्दी के अनेकानेक प्रणाम स्वीकार हों।” वृद्ध की आँखें अभी भर ही रही थीं। उनके कण्ठ से शब्द निकलते ही नहीं थे। अत्यधिक कठिनाई से वह कह पाये इतना ही।

“बेटा ! सम्राट् नागवंशज के यह विनय योग्य ही है। भारत-सम्राट् होकर भी ऐसे विनयी बने रहो, यही मेरा आशीर्वाद है।”

अब गुरुदेव बोले—“देव ! आप स्वयं इस अवस्था में इनकी खोज करते इतनी दूर आये हैं, इससे बड़ा वरदान इनके लिए और क्या हो सकता है ?”

वृद्ध हिचकियाँ ले रहे थे, कौन जाने इस समय भी उनकी आँखों से भरने वाले अश्रु आनन्द के थे अथवा दुःख के। उन्होंने कहा—“आज सम्राट् शिवनन्दी नहीं हैं, आर्य विराट नन्दी नहीं

हैं, भाई त्रिलोचन पंडित नहीं हैं, और विजय शूर भी नहीं हैं। शिववत्स भी नहीं है और कौन जाने गिरिभाल भी अब तक है अथवा नहीं, फिर भी जब इस शरीर के यह दो नयन जीवित हैं तो अब तो शिव की कृपा से सम्राट् शिवनन्दी के पुत्र को भारत-वर्ष का महाराजाधिराज देखकर ही ये नयन मुंदेंगे।”

“साधु, साधु” सबने अतीव हर्ष से कहा। नवदेवी...कठोर नवदेवी और योद्धा चन्द्रभाल के नयन भी बरस रहे थे फिर बालिका का तो कहना ही क्या। वह चन्द्रभाल की गोद में बैठी हिचकियाँ ले रही थी। बलिष्ठ शरीरवान्, अद्भुत कान्तिवान् नव-नन्दी के उज्ज्वल भाल की ओर रह-रहकर वृद्ध कीर्तिप्रभु देखते थे। अब नवनन्दी ने वृद्ध की ओर देखकर जिज्ञासा की—“प्रभो ! यह भाई कौन है ? यह बालिका कौन है ?”

वृद्ध बोल उठे—“आह ! हर्षातिरेक में इनका परिचय ही नहीं दे पाया। वत्स ! नहीं, नहीं, सम्राट्, प्रभो ! गंगा के तट पर जब सम्राट् शिवनन्दी ने अन्तिम बलिदान दिया तब उनके साथ कुछेक शूर युद्ध में सम्मिलित हुए थे, उन्हीं में से भालवंश के मुकुट गिरिभाल भी थे। यह युवक चन्द्रभाल उन्हीं के पुत्र हैं।”

चन्द्रभाल ने सम्राट् को सामरिक ढंग से खड्ग शिरस्त्राण से छुआकर प्रणाम किया। सम्राट् ने वन्दना के उत्तर में खड्ग अपने चरणों से उठाकर युवक के हाथ में देकर उसे हृदय से लगा लिया। उन्होंने कहा—“भाई ! यह मेरा सौभाग्य है कि आज तुम्हारे दर्शन हुए।”

तत्पश्चात् कीर्तिप्रभु ने कहा—“प्रभो ! उन्हीं में से एक अन्य योद्धा थे शूरवंश के शिरोमणि विजयशूर उनकी पौत्री यह कन्या विजया है। इसकी गाथा फिर अवसर पाकर श्री-सेवा में निवेदन करूँगा।”

नवनन्दी ने स्वाभाविक गाम्भीर्य और गौरव से कहा—

“देव ! अब आप सब विश्राम करें । मार्ग की क्लान्ति दूर किये बिना हम सबने आपको कष्ट ही दिया ।”

कीर्तिप्रभु ने कहा—“प्रभो ! इस कन्या को देवी नवदेवी की संरक्षकता में राजप्रासाद में ही रखिये । चन्द्रभाल भी वहीं रहे, किन्तु यह वृद्ध तो अब शिव-मन्दिर में भाई त्रिलोचन के पुत्र का आतिथ्य ही ग्रहण करेगा ।”

“और चन्द्रभाल पितृव्य के चरणों में ही स्थान लेगा ।”

गुरुदेव समझ गये कि कीर्तिप्रभु कुछ एकान्त में विचार-विनिमय करना चाहते हैं । अतः उन्होंने सहज स्वर में कहा—“यह राजमन्दिर है । यहाँ भी शासक की ही छत्रछाया है, अतः सम्राट् इन अद्वितीय अतिथियों के आतिथ्य का प्रबन्ध शिव-मन्दिर में ही करवा दें ।”

नवदेवी ने बालिका को चन्द्रभाल की गोद से ले लिया । बालिका रोते-रोते सो गई थी । सम्राट् नवनन्दी और देवी नवदेवी आज्ञा प्राप्त करके चले गये । चर को प्रकोष्ठ सज्जित करने की आज्ञा हुई ।

कीर्तिप्रभु ने एकान्त पाकर त्रिभुवन पंडित से कहा—“तुम्हें पुत्र ही कहूँगा, गुरुदेव !”

“वही कहिये, देव !”

“बेटा ! तुमसे भिक्षा माँगने आया हूँ । माँ भागीरथी अपनी बिलुड़ी हुई सन्तान को पुकार रही है । समस्त उत्तरापथ आज नागवंश की ओर देख रहा है । मुझे नागराज भिक्षा में दे दो, बेटा ।”

“देव ! नागवंश इसी दिन के लिए ही तो जीवित है । त्रिलोचन पंडित की की हुई प्रतिज्ञा आज भी जीवित है । शंकर की कृपा से पतित-पावनी की पावनता की रक्षा होगी ही ।”

“इसी आशा से इतनी दूर दौड़कर आया हूँ । समस्त

उत्तराखण्ड प्रतीक्षा कर रहा है ।”

“तब पुण्यतिथि आगामी शिवरात्रि को शुभ मुहूर्त में प्रस्थान किया जाय । राजनीतिक चर्चा फिर किसी समय होगी ही, किन्तु शिव-कार्यभार शिवरात्रि को ही किया जाना चाहिए,— गुरुदेव ने अपूर्व गम्भीरता से कहा ।

कीर्तिप्रभु और चन्द्रभाल कह उठे “साधु, साधु ।” इन दोनों ने शान्ति की निश्वास ली ।

संघ की आवश्यकता

“श्रेष्ठि पुत्र ! सद्धर्म पर श्रद्धा करो, इसी से तुम्हारा कल्याण होगा ।”

“महास्थविर ! सद्धर्म के प्रति मेरे हृदय में अपार सम्मान है किन्तु····”

“किन्तु-परन्तु की बात नहीं वरस····”

बालक की आयु कठिनता से चौदह-पन्द्रह वर्ष की होगी। वह बरबस काटे अपने घुंघराले काकपत्त का इस समय भी ध्यान कर रहा था । उसके नयनों में जल था । उसे माता की सूनी गोदी का रह-रहकर ध्यान हो आता था । पिता का स्नेह उसे इस समय भी स्मरण हो रहा था, किन्तु····किन्तु····बालक व्याकुल हो रहा था । उसके पिता वैष्णव थे । माता परम् साध्वी थीं । गत सप्ताह न जाने कैसे अचानक दोनों की दो दिन के अन्तर से मृत्यु हो गई । बालक गुरु-गृह में था । राज्य के नियमानुसार श्रेष्ठि की धन-सम्पत्ति उसके पुत्र को ही मिलनी चाहिए । कौशाम्बी के सबसे अधिक धनी व्यक्ति उसके पिता थे । राज्य के न्यायालय में साक्षियों द्वारा यह सिद्ध किया गया कि मृत्यु से पूर्व स्वर्गीय श्रेष्ठिवर ने यह अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की थी कि उनका पुत्र बौद्ध भिक्षु हो जाय । श्रेष्ठि के वही एकमात्र पुत्र था और एक कन्या थी जिसका विवाह हो चुका था । न्यायालय में श्रेष्ठि लिखित इसी आशय का एक प्रमाण भी दिया गया । बालक की अभागी बहिन न और अन्य सम्बन्धियों ने अनेकानेक

प्रयत्नों द्वारा यह सिद्ध करना चाहा कि यह असत्य है, किन्तु देश के न्यायालय भी तो बौद्धों के ही पक्ष में न्याय करते थे। पुत्री ने कहा कि उसके पिता की मृत्यु तो अचानक हुई थी। समाचार पाते ही वह पहुँची, किन्तु चौथे दिन से पूर्व न पहुँच सकी और तब तक उसकी माता की मृत्यु भी हो चुकी थी, किन्तु उससे किसी ने भी तो इस प्रकार की चर्चा नहीं की। अन्य सब लोग भी भली प्रकार वस्तुस्थिति जानते थे, किन्तु उपाय ही क्या था। न्यायालय ने सम्पत्तिसहित बालक बौद्ध संघ के आधीन कर दिया। बालक बौद्ध बना लिया गया।

बालक ने उत्तर दिया—“महास्थविर ! आप पूजनीय हैं, किन्तु अभी तो शोक से मेरी बुद्धि यूँ ही भ्रष्ट हो गई है। आपका त्याग और वैराग्य का उपदेश इसमें कहाँ समायेगा ?”

“बेटा ! उपदेश से ही मन की शान्ति प्राप्त होगी।”

“नहीं, महास्थविर ! मुझे शान्ति कदापि प्राप्त नहीं होगी। मुझे यूँ ही रहने दीजिये। मैं वैष्णव...” बालक ने दाँतों-तले जिह्वा दवाली। महास्थविर के संकेत से बालक को उसकी कुटी में पहुँचा दिया गया।

महास्थविर से बुद्धघोष ने कहा—“महास्थविर ! आप बार-बार अस्थिर क्यों हो जाते हैं ? आज फिर आप में परिवर्तन देख रहा हूँ।”

“बुद्धघोष ! तुम मुझे पुत्र से भी अधिक प्रिय हो। यह सत्य है कि इस समय संघ को धन की आवश्यकता थी, अत्यधिक आवश्यकता थी। यह भी सत्य है कि याचक बनकर जाने पर राजद्वार से भी सद्धर्म को धन की प्राप्ति हो ही जाती, किन्तु उस मार्ग के पीछे कितना तिरस्कार कितनी निहित लांछना होती उसकी तुम्हें कल्पना भी नहीं है। वत्स ! विदेशी शासक की कृपा-दृष्टि शासित देश के अपने भक्तों पर उसी प्रकार होती है जैसे

कि स्वामी की अपने पालित श्वान पर होती है ।”

“आप कैसी बात कह रहे हैं, महास्थविर ! राजदरबार में आप जैसा सम्मान और किसे प्राप्त है ?”

“उस दिन नहीं समझा था, बुद्धघोष ! उस दिन मेरे नेत्रों पर प्रतिशोध, प्रतिहिंसा का भारी पर्दा पड़ा था, किन्तु आज स्पष्ट देख रहा हूँ कि विजेता का विजित के प्रति सम्मान केवलमात्र अपने स्वार्थ के लिए ही होता है । उसे कृपा करना चाहिए सम्मान जैसी वस्तु तो मानव को स्वाधीन होकर ही मिल सकती है ?”

“तब आप यह सब क्यों करते हैं ?”

“केवल सद्धर्म के लिए सद्धर्म का भविष्य क्या होगा ? कह नहीं सकता । आज इसका स्थान जनता का हृदय नहीं है । जनता आज भी हम जो कुछ भी करें उसके विरुद्ध बोल नहीं पाती, किन्तु केवल राजदण्ड के भय से । विदेशी राजा के दण्ड-भय से सम्मानप्राप्त सद्धर्म इस देश में कब तक टिक सकेगा, कौन कह सकता है ? वर्षों से कभी गणना नहीं की थी बुद्धघोष, किन्तु कल रात्रि को गणना की; फल भयप्रद है । दक्षिण ओर से बवंडर का भय है । क्या होगा ? कहा नहीं जा सकता, किन्तु सम्भव है उसी आँधी में कुशन-साम्राज्य ही बह जाय...किन्तु...”

“जानता हूँ महास्थविर ! यह अत्यन्त गोपनीय गणना परिणाम है । भयप्रद होते हुए भी . . .”

“नहीं, नहीं, गणना का फल सत्य ही होगा । कैसे होगा ? कह नहीं सकता, किन्तु होगा सत्य ही इतना निश्चित है । संघ की आर्थिक अवस्था शोचनीय थी, किन्तु श्रेष्ठि का धन हस्तगत करते ही अवस्था अच्छी हो जायगी । तुमने यह कर्म किया है । न जाने रहस्य-भेद होते ही यदि कहीं दुर्भाग्य से खेत्रपल्ल को कुछ हो गया तो तुम्हारी गति...”

“और आपकी महास्थविर...”

“मुझे छोड़ दो । मेरी चौथी अवस्था है, कब और कितने दिन जीऊँगा । तुम और बुद्धमित्र तुरन्त चीन देश चले जाओ ।”

“ओह, इतनी दूर महास्थविर !...”

“सद्धर्म का प्रचार करना, पुत्र ! धन जितना ले जा सको ले जाना, किन्तु स्वर्ण-मुद्राएँ ही लेना । रत्न चाहो तो ले जा सकते हो ।”

“लौटने की आज्ञा होगी ?”

“जीवित पहुँच सके तो लौटने की बात दस वर्ष पश्चात् सोचना ।” वृद्ध महास्थविर तनिक कातर हो उठे—“बहुत दिन और नहीं जीवित रहूँगा, तुम्हें फिर देख भी नहीं सकूँगा । फिर भी बेटा आशीर्वाद देता हूँ कि सद्धर्म की रक्षा कर सको ।...” क्षणिक महास्थविर काँप उठे—“जिस धर्म की रक्षा मानव को करना पड़े वह धर्म क्या जीवित रह सकेगा ?”

“कल रात्रि को तीसरे प्रहर भेंट करूँगा । तब ही आपको अपना आगामी कार्यक्रम और योजनाएँ बताऊँगा । महास्थविर ! आपको छोड़कर जाने की इच्छा तो नहीं होती ।”

“किन्तु जाना तो होगा ही ।”

“अच्छा, महास्थविर ! जो आज्ञा ।” बुद्धघोष चला गया । महास्थविर अत्यधिक अधीर हो उठे—“हा हन्त ! कितने पाप किये जा रहा हूँ, किन्तु और उपाय भी क्या है ? वह शासक हैं । संसार जानता है कि वह बौद्ध हैं । बौद्ध धर्म के पालक और समर्थक हैं किन्तु किन्तु... बौद्ध धर्म विजित देश का धर्म तो उनके स्वार्थ-साधन का एक यन्त्रमात्र ही है ना । यदि यही बीस-तीस वर्ष पूर्व समझ पाता । नहीं समझा था उस दिन जिस दिन ऋषिकेश ने समझाया था । भाई ! आज तुम्हारा शाप बहुमुखी होकर मुझे डसने आ रहा है । उससे निष्कृति कहो ? किन्तु निष्कृति हो भी क्यों ? मैं कायर नहीं हूँ...ओह ! किन्तु हत्यारा

हूँ...पर मैंने हत्या सद्धर्म के लिए ही तो की, करवाई...मैंने...
 मैंने...फिर भी शान्ति क्यों नहीं मिलती...तथागत मुझे
 क्षमा करना...मेरे समस्त पाप, दोष और अपराध क्षमा करना...
 मैंने सद्धर्म...नहीं...नहीं...प्रतिहिंसा प्रतिशोध की भावना
 से प्रेरित होकर...ओह...कितना भयंकर दर्शन है...मुझे इससे
 मुक्ति कब मिलेगी?...तथागत...हे महानिर्वाणदाता..." उनके
 नेत्रों से अश्रु-जल गिरकर उनके गण्डस्थल को भगोने लगा।
 वह भूमि पर बालकों की भाँति लोटकर रोने लगे। किन्तु सुनने
 वाला वहाँ था ही कौन ?

शिव-भार

प्रस्तर-भित्तियों से घिरे संकीर्ण देवमन्दिर में गुरुदेव शिवलिंग के सम्मुख समाधिस्थ बैठे थे। कभी-कभी उनके मुख से धीरे से चन्द्रशेखर ही सुन पड़ता था। गम्भीर प्रियदर्शी नाग सम्राट् नवनन्दी निकट ही मौन बैठे थे। लगभग आधी घड़ी पश्चात् गुरुदेव ने नेत्र खोल दिये। रात्रि का लगभग तृतीय प्रहर भी व्यतीत हो चुका था। नवनन्दी ने गुरुदेव के चरणों में शीश रख-कर प्रणाम किया।

“विजयी भव !” गुरुदेव ने कहा।

“गुरुदेव ! धर्म-युद्ध के लिए प्रस्थान करने की आज्ञा हो।”

“वत्स ! मुझे तो साथ चलना ही होगा। नवदेवी और महादेवी भी चलेंगी।”

“युद्ध-क्षेत्र में आप लोग जाकर क्या करेंगे, गुरुदेव ?” गुरुदेव के मुख पर स्निग्ध मुस्कान बिखर गई।

“मैं दूँगा आशीर्वाद और नवदेवी तथा महादेवी देंगी उत्साह, प्रेरणा।”

“आपकी आज्ञा शिरोधार्य, किन्तु महादेवी ...”

“जानता हूँ, कोमलहृदया महादेवी युद्धकालीन कठिनाइयों को सहन न कर पायेंगी, किन्तु नवदेवी तो किसी प्रकार भी पीछे रहना ही नहीं चाहती हैं। बेटा ! मैंने तुम दोनों को साथ-ही-साथ शिक्षा दिलाई थी। नवदेवी अस्त्र चलाना जानती है। उसे युद्ध में जाने की आज्ञा दो, सहर्ष दो। उसके हृदय की अग्नि यूँ शान्त न होगी।”

“वह तो बालक वीरसेन को भी युद्ध में ले जाना चाहती हैं, गुरुदेव !”

“हानि ही क्या है ? महाराजा शिवनन्दी ने बारह वर्ष की अवस्था में वितस्ता के तीर पर शकों को परास्त किया था ।”

“तब तो अनन्ता भी जाना चाहेगी । गुरुदेव क्या यह बालक-बालिकाओं का युद्ध होगा ?”

“नहीं, केवल नवदेवी और वीरसेन ही जायँगे, पुत्र ! तुम चिन्ता न करो । भगवान् शिव की तुम पर कृपा है । तुम्हारी विजय अवश्यम्भावी है । महादेवी, अनन्ता, विजया आदि समाचार आने तक यहीं रहेंगी । मैं चलूँगा तो तुम लोगों के साथ-ही-साथ किन्तु गुप्त भाव से । जब कभी तुम्हें मेरी आवश्यकता होगी, मैं तुम से दूर नहीं होऊँगा ।”

“आज्ञा, गुरुदेव !” महाराज नवनन्दी ने भूमिष्ठ होकर प्रणाम किया । गुरुदेव ने स्नेह से देखकर कहा—“वत्स ! विजयी भव !” रात्रि प्रायः समाप्त हो रही थी । नवनन्दी गुहागृह से निकलकर राजपथ पर आये । अश्व तो था ही । सीधे सैनिक-शिविर की ओर चले । तनिक-सी देर में ही सैनिक-शिविर सम्मुख था । चारों ओर उत्सव की-सी चहल-पहल थी । एक स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक भीड़ देखकर महाराज उसी ओर चले । अद्भुत दृश्य था । सहस्रों सैनिकों के बीच वृद्ध कीर्तिप्रभु सैनिक सज्जा में अश्वारोही उपस्थित थे । उनके धवल केश वायु में उड़ रहे थे, शिरस्त्राण नहीं पहना था । पास ही एक दूसरे घोड़े पर बालक वीरसेन वीर-वेश में अत्यन्त सुन्दर दिखाई दे रहा था । एक दूसरे अश्व पर उनकी अपनी ही मुखाकृति केवल कुछ अधिक कोमल और अल्पायु वीर-वेश में दिखाई दी । नवनन्दी ने मन-ही-मन कहा—“माँ, गंगे ! तुम्हारा उद्धार मलेच्छों के हाथों से होगा ही ।”

इसी समय वृद्ध ने ऊँचे स्वर से कहा—“भाइयो ! वीरो !

योद्धाओ ! माँ गंगा तुम्हें पुकार रही है । पवित्र नर्मदा नदी से परे एक सुन्दर हरी-भरी आर्यों की पवित्र धरती है । वहाँ आज अर्द्ध-शती से मलेच्छ अनाचार-अत्याचार कर रहे हैं... उसी भूमि का कण-कण देवताओं का प्रसाद है । वह देवभूमि तुम्हें अपनी रक्षा के लिए, अपने उद्धार के लिए, पुकार रही है । आज तुम्हें प्रतिज्ञा करनी होगी कि शिवशंकर के इस पावन कार्य को सम्पन्न करते हुए प्राण दे दोगे अथवा विजय प्राप्त करोगे । यह धर्म-युद्ध है, भाइयो ! उसी धर्म-युद्ध की पुनरावृत्ति है जो आज से पचास वर्ष पूर्व गंगा के तट पर महाराज शिवनन्दी ने किया था । उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आज माँ नर्मदा का जल लाल करदो, देश के सुपुत्रो !....”

“वृद्ध ने खड्ग निकालकर सब ही को सम्बोधित करते हुए कहा—“इस पवित्र देव-वेला, ब्राह्म मुहूर्त में खड्ग छूकर प्रतिज्ञा करो कि विजय प्राप्त किये बिना लौटेंगे नहीं ।”

उषा की हलकी-सी लालिमा में वृद्ध का खड्ग चमक उठा । नवदेवी और बालक वीरसेन ने भी विद्युत की-सी चपलता से अपने-अपने खड्ग कोष से बाहर निकाले । सहस्रों खड्ग साथ-साथ चमक उठे ।

सर्वप्रथम वृद्ध ने स्वयं प्रतिज्ञा की, फिर वीरसेन और नवदेवी ने प्रतिज्ञा की और फिर चन्द्रभाल ने प्रतिज्ञा की । इसी समय भीड़ की गहनता को नष्ट करते हुए दो अश्व वहीं पहुँचने का प्रयत्न कर रहे थे । दोनों पर दो अल्पवयस्क बालक-से जान पड़ते थे, किन्तु उनके घुँघराले केश वायु में लहरा रहे थे । दोनों अत्यन्त सुन्दर और कोमल थे ! बड़ी कठिनाई से भीड़ को चीरते हुए वह दोनों ठीक कीर्तिप्रभु के सम्मुख पहुँचे । दोनों ने सामरिक रीति से प्रणाम करके कहा—“महानायक ! धर्म-युद्ध में अनन्ता और विजया भी सम्मिलित होंगी ही ।” आश्चर्य से सब

एक दूसरे का मुख देखने लगे। नवदेवी ने तनिक अधिकारपूर्ण स्वर से कहा—“जाओ, बालिकाओं यह क्रीड़ा-कौतुक नहीं है।”

“हम जानती हैं देवि !”

अनन्ता ने तनिक आगे बढ़कर कहा—“महानायक ! अत्यन्त प्राचीन प्रजातन्त्रीय राजवंश कुणीन्द की ओर से कुणीन्द रक्तवती अनन्ता महाराज परम् महेश्वर नवनन्दी की धर्मयुद्धार्थ प्रस्थानोद्यत सेना में स्थान प्राप्त करने के लिए उपस्थित है। कुणीन्दवंश का सम्मान आपके हाथ में है। आपके स्वीकार न करने पर मुझे महाराज की शरण में जाना होगा। और कहीं से भी स्वीकृति न मिलने पर विवश होकर कुणीन्दवंश को ”

वृद्ध कीर्तिप्रभु स्निग्ध हँसी हँस दिये।

“कुणीन्दवंश अत्यन्त प्राचीन और आदरणीय है। उसका अनादर नागवंश कभी नहीं करेगा। शूरवंश का सम्मान रखना भी नागवंश जानता है, किन्तु महाराज की आज्ञा सर्वोपरि है। आप दोनों अभी स्थान ग्रहण करें। महाराज की आज्ञा हो जाने पर आप अपने-अपने वंश का प्रतिनिधित्व कर सकेंगी।”

“भीड़ के पीछे अपेक्षाकृत एकान्त में खड़े एक अश्वारोही पर दृष्टि पड़ते ही वृद्ध कीर्तिप्रभु चिल्ला उठे—“परम् महेश्वर महाराजाधिराज नवनन्दी की जय !” सब ही ने उस ओर घूमकर देखा। साधारण तपस्वी के समान वेशभूषा में महाराज रक्त-चन्दन का तिलक भाल पर धारण किये अश्वारोही-भीड़ के पीछे खड़े थे। भीड़ ने ससम्मान मार्ग छोड़ दिया। गगनभेदी विजय-घोष के बीच महाराज आगे आये। महानायक ने प्रथम और तत्पश्चात् सब ही ने महाराज को सामरिक रीति से प्रणाम किया। महाराज ने अभिवादन का उत्तर देकर दोनों बालिकाओं की ओर देखकर कहा—“देवियो ! इस विशाल भूखण्ड का भविष्य उज्ज्वल है। जिस देश के बालक-बालिकाएँ भी स्वतन्त्रता

का मूल्य प्राणों से आँकने लगते हैं वह देश कभी परतन्त्र रह ही नहीं सकता है। मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ।” फिर उन्होंने महानायक की ओर देखकर कहा—“महानायक कीर्तिप्रभु देव ! मैं भी आज प्रतिज्ञा लूँगा, किन्तु मेरी प्रतिज्ञा केवल यही होगी कि मैं शिव का कार्यभार आवज्जीवन ढोता रहूँगा।”

भीड़ आदर से मार्ग देती दिखाई दे रही थी और उसके बीच से त्रिभुवन पंडित की दीर्घकाय सुगठित देह आगे बढ़ती दिखाई दी। निकट आकर उन्होंने उच्च स्वर में कहा—“स्वामिन् ! नवनन्दी ! शिव-भार तुम न ढोओगे तो और कौन ऐसा समर्थ है जो ढो सके। तुम्हारी प्रतिज्ञा के साक्षी आज नभ के सब ही देवता होंगे। चन्द्रभाल, पवित्र भालवंश के दीपक नदी-तट से पवित्र गंगपूत शिवलिंग ले आओ। आज नागवंश का सम्राट् शिवलिंग कन्धे पर रखकर शिव-भार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करेगा।” सब कह उठे—“साधु, साधु !” चारों ओर की जयध्वनि से दशों दिशाएँ काँप उठीं। कुछ ही देर में शिवलिंग आ गया। नवनन्दी ने अश्रु छोड़कर शिवलिंग कन्धे पर धारण करके प्रतिज्ञा की। गुरुदेव ने कहा—“सम्राट्, आज से तुम शिव-भार ढोने वाले नाग हो। भाई शिववंश के प्रथम सम्राट् नवनाग मेरा अभिनन्दन स्वीकार करो !”

जयध्वनि आकाश-पाताल एक करे दे रही थी। उसी समय नवदेवी ने खड्ग से अँगुलि चीरकर भाई का तिलक किया। सबने उन्हें आशीर्वाद दिया। मन-ही-मन वृद्ध कीर्तिप्रभु ने कहा—“हे शंकर ! तुम धन्य हो, धन्य हो चन्द्रशेखर तुम्हारी अद्भुत अपरम्पार लीला है। उसी दिन दिवस के तीसरे प्रहर में युद्ध-व्यूह-रचना के लिए सैनिक दल नर्मदा की ओर जाने लगे।

केवल महादेवी ही युद्ध में न जा सकीं । उन्होंने माँ गौरी के मन्दिर में जाकर यही प्रार्थना की कि माँ मेरा सौभाग्य-सिन्दूर अक्षय हो, मेरी गोद भरी रहे और तुम्हारा कार्य भी सिद्ध हो जाय, ऐसा ही करना सती !

रण-चण्डिका

“प्रभो ! तनिक भी आशा न रह जाने पर ही मैं श्रीमान् की शरण आया हूँ ।” वक्ता अत्यधिक वृद्ध था । उनके शरीर, वस्त्र और केशों पर सर्वत्र धूल-ही-धूल दिखाई देती थी ।

श्रीवत्स ने पूछा—“तुम्हें चण्डीगढ़ छोड़े कितने दिन हो गये हैं ?”

“तीन दिन पूर्व मैं वहीं था ।”

“हमें सारी बात विस्तार से सुनाओ ।”

“प्रभो ! महाराज कान्तिदत्त को मैंने गोद खिलाया है । यावज्जीवन उन्हीं के चरणों में रहा । यों तो वह सदा से ही उत्साही, भय-शून्य और शिव-सेवक थे ही किन्तु जब से महारानी जी अचानक चली गईं तब से तो आप सब जानते ही हैं कि वह अर्द्ध विक्षिप्त-से रहने लगे । पिछले तीन मास से उन्हें धुन ही हो गई थी कि कान्तिपुर हस्तगत करेंगे । चिन्ता कान्तिपुर के विषय में तो उतनी अधिक नहीं थी, किन्तु चण्डीगढ़ मार्ग में ही पड़ता है और वह कुशनों का प्रबल गढ़ है ही……” वृद्ध को खाँसी आ गई । जल लाया गया । तनिक स्वस्थ होकर उसने कहना आरम्भ किया—“प्रभो ! सबने कहा कि केवल दो हजार सैनिक लेकर चण्डीगढ़ पर चढ़ना कठिन है । किन्तु यौधेय महाराज के कोष में असम्भव तो क्या कठिन तक शब्द नहीं है । एक मास पूर्व वह गुप्त वेश में चण्डीगढ़ पहुँच गये । सैनिक भी धीरे-धीरे इधर-उधर दो-दो सौ की टोलियों में अमावस्या की रात्रि को चण्डीगढ़ के आस-पास एकत्रित हो गये । महाराज तो प्राणों

से खेल ही रहे थे। वैसा अपूर्व साहस किस में होगा? एक संन्यासी महाराज और उनके साथ एक देवी थीं। उन्होंने आश्वासन दिया था कि वह किसी-न-किसी प्रकार से चण्डीगढ़ के दक्षिण भाग में अमावस्या की रात्रि को प्रकाश करेंगे और उसी समय दो सैनिक गढ़ के कँगूरे पर से उनके द्वारा फेंकी हुई रस्सी से गढ़ में चले जायँ। उनकी सहायता से आधी घड़ी में दक्षिण-द्वार खोल अथवा तोड़ लिया जायगा। जब तक गढ़ के सैनिक चेतेंगे तब तक यौधेयों के दो सहस्र वीर गढ़ के भीतर पहुँच जायँगे। फिर तो इन्हें ब्रह्मा भी विजयी नहीं कर पायेंगे।” वह फिर ठहर गया।

“तब क्या हुआ?”

“उतना तो ठीक ही हुआ। देवी को संन्यासी गढ़पति के पास दासी-वृत्ति दिलाने के बहाने ले गये। देवी के अद्भुत रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर गढ़पति ने उन्हें रख लिया। उनसे मिलने के मिस संन्यासी भी कभी-कभी भीतर जाने लगे। ये दोनों ही साधारण गृहस्थ के वेश में थे। तीन ही दिन के भीतर संन्यासी ने गढ़ में अनेक मित्र बना लिये। उस दिन यह वहीं विशेषाज्ञा से रह गये। गढ़पति भी इन्हें एकबारगी अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। देवी ने भी कौशल से गढ़पति को प्रसन्न कर लिया। देवी को प्राप्त करने के प्रलोभन में गढ़पति अन्धा हो रहा था। अर्द्ध रात्रि को थोड़ी-सी लकड़ियों का प्रकाश यथा-स्थान दिखाई दिया। प्रहरी को अचेत करके संन्यासी ने ही प्रकाश किया था। रस्सी पर स्वयं आर्य कान्तिदत्त और उनका एक विश्वस्त साथी गया। दोनों ही कुछेक क्षण जीवन और मृत्यु के बीच में थे। शंकर की कृपा से ऊपर तो सकुशल पहुँच गये। उधर देवी ने किसी प्रकार से दक्षिण-द्वार की कुंजी हस्तगत कर ली, किन्तु इधर के एक सहस्र सैनिक भीतर पहुँचते ही शत्रु सचेत

हो गया। किन्तु इससे क्या, एक सहस्र वीरों ने दस सहस्र कुशनों से युद्ध किया। हमारे सात सौ वीर गौलोकत्तमी हो गये। आर्य कान्तिदत्त के शरीर पर अस्सी व्रण लगे, किन्तु गढ़ हाथ में आ गया। परन्तु विपत्ति का अन्त तो हुआ नहीं। पन्द्रह दिन के भीतर ही राज्य की ओर से बीस सहस्र सैनिकों ने गढ़ घेर लिया। गढ़ के भीतर अन्न तो चुक ही गया था। दस सहस्र शवों की क्रिया करते-करते लकड़ी भी समाप्त हो गई। गढ़पति मरते-मरते गढ़ की एकमात्र बावड़ी में भी विष डाल गया। आज पाँच दिन से गढ़ के भीतर ग्यारह-बारह सौ प्राणी अन्न, जल-विहीन बाहर की बीस सहस्र सेना से युद्ध कर रहे हैं। कहीं समाचार भेजने का भी तो कोई मार्ग नहीं था। किसी प्रकार रात्रि के अन्धकार में मैं वहाँ से निकल पाया हूँ सो भी आर्य कान्तिदत्त की आज्ञा के बिना ही। वह तो मानो मृत्यु का वरण करने को ही व्याकुल हो रहे हैं।”

“साधु, साधु !” सबने पीछें देखा। विशालाक्षी अपनी पूरी ऊँचाई में तनकर सीधी खड़ी थी। राजवत्स ने वृद्ध को कहने का संकेत किया।

वृद्ध ने युवती को प्रणाम किया और फिर कहना आरम्भ किया—“मैं वहाँ से निकलते ही सीधा यहीं दौड़ता आया हूँ। अब यदि आप सहायता पहुँचा सकें तो चण्डीगढ़ कान्तिपुर तो आपका हुआ ही यौधेय वंश भी आपका चिर-ऋणी हो जायगा।

राजवत्स ने गम्भीरता से उत्तर दिया—“कान्तिदत्त हमारे मित्र हैं, हम कल ही कूच करेंगे। आप कल तक विश्राम करें।” वृद्ध चला गया।

इस बार भालवंश के खण्डहर की अवस्था कुछ सुधर गई थी। स्थान-स्थान पर मरम्मत हो रही थी। इसी बीच राजवत्स और श्रीवत्स ने कुछ सैन्य संग्रह भी किया था। वृद्ध गिरिभाल

की आज्ञा से कार्य हो रहा था। स्वयं आकर श्रेष्ठिवर दामोदर ने गिरिभाल के चरणों में देश-हितार्थ अपना अपार धन रख दिया था। वृद्ध के चले जाने के पश्चात् राजवत्स ने विशालाक्षी से कहा—“भाभी ! कल हमें चण्डीगढ़ की ओर जाना होगा। किसी भी मूल्य पर कान्तिदत्त ...”

“सो मैं जानती हूँ। स्वातन्त्र्य-युद्ध आरम्भ हो गया। इसके प्रत्येक सेनानी की इस समय अत्यधिक आवश्यकता है। सो तो ठीक है, किन्तु इस बार मैं भी चलूँगी।”

“नहीं, भाभी ! अभी वैसी अवस्था नहीं आई है। आवश्यकता पड़ने पर आप भी युद्ध करेंगी ही।”

“फिर मुझे युद्ध-विद्या क्यों इतने प्रयत्न से सिखा रहे थे, भाई ?” विशालाक्षी ने हँसकर कहा।

“इसलिए कि कभी आवश्यकता पड़ने पर स्वरक्षा कर सकें,” श्रीवत्स ने कहा।

“वैसी आवश्यकता कहाँ पड़ेगी ?”

“भाभी ! सम्भवतः चन्द्रभाल भाई भी इसे अच्छा न समझें।” तनिक रसिकता से राजवत्स ने कहा।

“तुम्हारे भाई को रमणी की नहीं, आवश्यकता थी योद्धा की।” विशालाक्षी ने सरसता से उत्तर दिया। तीनों के अधरों पर मुस्कान दौड़ गई। विशालाक्षी ने कहा—“न जाने क्यों मुझे ऐसा जान पड़ता है कि अब मेरी उनसे भेंट रणक्षेत्र में ही होगी।”

“वाह भाभी ! कैसी बातें करती हैं आप ?”

“मैं ठीक ही कह रही हूँ भाई !” कहकर वह उदास हो गई। उनका मुख उदास होता देखकर वह दोनों भी तनिक उदास हो गये। इसी समय प्रमदा ने आकर सूचना दी कि भोजन प्रस्तुत है। तनिक हँसकर विशालाक्षी ने कहा—“प्रमदा ! योद्धा भी कहीं

किसी के हुए हैं ? आज इन्हें भोजन करा दे । कल तो यह युद्ध में जा रहे हैं ना ।” उनके स्वर की उदासी से तीनों काँप उठे । राजवत्स ने सान्त्वना के-से स्वर में कहा—“भाभी ! भोजन तो अब चित्त से तब ही करेंगे जब देश स्वतन्त्र होगा । भाई चन्द्रभाल और सब ही बन्धु-बान्धव घर में होंगे ।” सजल नेत्रों से उसने कहा ।

“वह कब होगा ?” प्रमदा के नेत्र स्वर की करुणता से छलछला उठे । वह कह रही थी—“और वह दिन किस-किसके भाग्य में देखना बदा होगा, यह भी कौन कह सकता है ?”

मन-ही-मन वह कह उठी—‘तुम कहाँ हो स्वामी ?’

गम्भीरवातावरण को चीरता हुआ किसी संन्यासी का स्वर समीप से ही सुन पड़ा—चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ।

राजवत्स उछल पड़े—“प्रमदा ! दौड़कर उस संन्यासी को बुला ला जिसका यह स्वर है । कहना गए यहीं है । वह स्वयं आ जायँगे । उसने फिर विशालाक्षी की ओर घूमकर कहा—“भाभी तनिक ठहरो । शंखचूड़ जब आये ही हैं तो अवश्य कुछ और ही समाचार होगा । कान्तिदत्त को चण्डीगढ़ तक पहुँचाकर तो वह वहाँ से चल ही दिये होंगे । जान पड़ता है कि कोई विशेष समाचार है ।” प्रमदा के साथ एक अपेक्षाकृत छोटे शरीर के व्यक्ति संन्यासी-वेश में आ गये । सर्वप्रथम उन्होंने ही विशालाक्षी को प्रणाम किया । तत्पश्चात् इन दोनों भाइयों को प्रणाम करके बोले—“भाई ! रमते योगी को क्यों स्मरण किया ?”

“और यहाँ मंडरा ही क्यों रहे थे रमते योगी ?”

“समाचार अच्छा ही है । नागराज नवनाग नर्मदा के तट पर कुशनों को परास्त करके उत्तराखण्ड की ओर बढ़े आ रहे हैं । आर्य कीर्तिप्रभु, आर्य चन्द्रभाल उनके साथ ही हैं ।”

विशालाक्षी का उदास मन खिल उठा । श्रीवत्स ने उनकी

और देखा तनिक मुस्कराकर ।

राजवत्स ने कहा—“ठीक ही घर में समाचार लाये हो शंखचूड़ ! मुँह मिष्ठान्न से भर जायगा । इन्हें जानते हो ना ?”

“आर्य गिरिभाल की पुत्रवधु... आर्य चन्द्रभाल गढ़ मंडलेश्वर की प्रिया को उत्तरापथ में कौन नहीं जानता भाई ?” बड़े आडम्बर से कहा शंखचूड़ ने । विशालाक्षी तनिक लज्जित-सी हो गई । श्रीवत्स ने कहा—“कान्तिदत्त के समाचार जानते हो ?”

“हाँ, और यहाँ तक भी जानता हूँ कि उनका चर जब यहाँ पहुँच गया है तो सहायता पहुँचेगी ही ।”

“ठीक है ।”

“अच्छा सुनो, अब उत्तरापथ में यदि चण्डीगढ़ बना रहा तो नागराज नवनाग का कार्य अत्यन्त सुगम हो जायगा । तनिक प्रयत्न करके कौशाम्बी भी हस्तगत करलो और नागराज से आगे बढ़कर गंगा-तट से पूर्व ही मिल जाओ । अथवा कान्तिपुर में ही शक्ति-संग्रह करके प्रतीक्षा करो । नागराज कुशनों की सबसे बड़ी शक्ति से गंगा-तट पर ही मुठभेड़ करेंगे । यदि उस समय तुम पश्चिम से शत्रुदल पर टूट पड़े तो विजय निश्चय ही हमारी है ।” दृढ़ निश्चय से वह कह रहे थे ।

श्रीवत्स ने कहा—“किन्तु चण्डीगढ़ पर तो निपट लें ।” शंखचूड़ अधिक निश्चय से बोले—“चण्डीगढ़ तो अपना है ही । देवी शत्रुशैन्य में परस्पर विरोध कराने का प्रयत्न कर रही हैं । इधर कान्तिदत्त जैसा अद्भुत साहसी, धैर्यवान, वीर नहीं देखा । वह प्राण रहते एक भी व्यक्ति को तट के निकट तक नहीं फटकने देगा ।”

“शंखचूड़ ! शुभा कहाँ है ?” तनिक आत्मीयता से विशालाक्षी ने पूछा । शंखचूड़ ने सशब्द हँसकर कहा—“जान पड़ता है देवी को कुछ भी विस्मरण नहीं हुआ है । शुभा खेत्रपल्ल के आवास

में गुप्तचरी है, देवि !”

“बड़े क्रूर हो ।” विशालाक्षी ने भी हँसकर कहा ।

“इतना ही नहीं देवि ! मेरे अपराध प्रकाश में आने पर सम्भवतः आप मुझे कदापि क्षमा नहीं करेंगी ।”

“तुम्हारे चरणों की सम्भव है पूजा करने लगूँ, भाई !”

“भैया के चरणों की पूजा होगी वह दिन भी शीघ्र ही आने वाला है ।” साधारण स्वर में कही गई शंखचूड़ की बात से विशालाक्षी फिर उदास हो गई । शुभा उसकी सखी थी, इस सम्बन्ध से शंखचूड़ को सहज हास्य करने का अधिकार भी था फिर भी वह उदास स्वर से बोली—“भाई, वह बात अभी क्यों कहते हो ? कौन जाने वह दिन कभी आयेगा भी ?” इसी समय प्रमदा ने फिर आकर कहा—“भोजन प्रस्तुत है । विलम्ब अधिक हो रहा है । पिता जी अभी पूछेंगे ।”

“चलिये ।” विशालाक्षी के पीछे-पीछे सब ही लोग दूसरे प्रकोष्ठ में भोजन करने चले गये, किन्तु विशालाक्षी के मन की उदासी बढ़ती ही गई ।

सन्देश

“मैं कहाँ हूँ ? यह सब क्या है ?” सिर से पैर तक पट्टियों में जकड़े हुए कान्तिदत्त ने पूछा ।

शैया के निकट देवी सतर्क बैठी थीं । उन्होंने उत्तर दिया—
“कान्तिदत्त भाई, तुम अपने ही विजय प्राप्त किये हुए गढ़ में हो ?”

“यह कैसे ? आप कौन हैं ? आप तो देवी जान पड़ती हैं । यहाँ कैसे आई ?” उत्सुकता से उसने कहा ।

तनिक हँसकर देवी ने उत्तर दिया—“तुम तो अनेकों प्रश्न एक ही बार करते हो भाई ! किस-किस का उत्तर दूँ ?”

“मैं सब कुछ जानने को व्याकुल हूँ । मुझे सब कुछ बताइये देवि !”

“मैं क्या बताऊँ, भाई ?”

“मैं यहाँ किस प्रकार आया ? मैं तो युद्ध-क्षेत्र में अचेत हो गया था ।”

देवी ने सस्नेह कान्तिदत्त के पट्टियों से भरे सिर के अग्रभाग पर हाथ रखा । फिर कहने लगीं—

“भाई ! मैं तो गढ़ में भी तुम्हारे साथ ही थी । जिस समय एक सप्ताह के बन्धन से ऊबकर तुमने निश्चय किया कि अब प्राण देंगे ही और सो भी भीतर बैठकर नहीं बाहर सम्मुख युद्ध करके, तब तुम्हारा वृद्ध चर किसी प्रकार गढ़ से बाहर युक्ति से निकल गया । वह उधर वत्स-भ्राताओं को खोजता हुआ उनके पास पहुँचा, इधर तुम उतावले हो रहे थे । इस प्रकार बँधे बैठे

रहना तुम्हें असह्य हो रहा था। अधिक-से-अधिक कुछ ही दिन तुम और रोके जा सकते थे। उधर शिव की कृपा से बाहर की कुशन-सेना भी ऊब रही थी। उनमें आपस में दो दल भी हो गये थे। गत शुक्रवार को रात्रि के दूसरे प्रहर में तुम अपने सहस्र वीरों के साथ द्वार खोलकर बाहर की सेनाओं पर दूट पड़े।”

बीच ही में रोककर उतावलेपने से उसने कहा—“सो सब तो मैं जानता ही हूँ, आगे कहिये।”

“दो घड़ी घमासान युद्ध हुआ। शत्रु-सेना अधिकांश तो यमलोक पहुँच गई। शेष भाग ही रहे थे कि इतने में ही पीछे से राजवत्स और एक पार्श्व से श्रीवत्स तथा दूसरे पार्श्व से विशाल देव केवल पाँच-पाँच सौ सैनिक लेकर अचानक ही शत्रु की भागती हुई सेना पर आक्रमण कर बैठे। शत्रु की बीस सहस्र सेना खेत रही।”

“किन्तु मुझे क्या हो गया था? और फिर मैं कैसे यहाँ आया?” मन-ही-मन देवी ने कहा—“सो केवल किसी एक रमणी के सुहाग की रक्षा के लिए... उस रमणी के जो किसी एक दिन वाराणसी में मेरी सहपाठिनी थी, सखी थी और आज न जाने किस प्रदेश में देश की स्वतन्त्रता के लिए मन्त्र-साधन कर रही है। जिसके वियोग में तुम प्राण देने तक को उत्सुक हो रहे हो।” प्रकाश्य उसने इतना ही कहा—“दोनों हाथों से खड्ग चलाते हुए जब तुम शत्रु-सेना के मध्य में थे तभी तुम्हारा शरीर व्रणों से छलनी हो गया था। पीछे से किसी ने तुम्हारे शीश पर कड़ा आघात किया। रक्तस्राव अधिक हो चुका था, अतः तुम अचेत होकर अश्व पर ही गिर पड़े किन्तु तब तक युद्ध समाप्तप्राय ही था। तत्पश्चात् तुम्हारी खोज हुई और इस समय तुम अपने गढ़ में, चण्डीगढ़ में हो।”

“देवी के अतिरिक्त और मुझ अभागों को मृत्यु के मुख से

कौन निकाल सकता था, किन्तु आपने मुझे शान्ति से गोलोक-यात्रा भी नहीं करने दी। यह आपने कौनसा उपकार किया ?”

देवी के नेत्र छलछला आये। किन्तु उन्होंने संयम से बलपूर्वक जल नेत्रों के भीतर ही रोककर कहा—“गोलोक-यात्रा भी होगी। समय आने पर नश्वर शरीर सब ही को त्यागना होगा, किन्तु माँ भागीरथी की पवित्रता स्थापित किये बिना तुम्हें तो उसकी भी सुविधा नहीं है। भाई ! यह शरीर तो इस देश का ही है। इसे तो देश का ऋण चुकाना ही होगा।” और मन-ही-मन कहा—‘प्रतीक्षा करो, जिस दिन देश का भाग्योदय होगा उस दिन...बस...उस दिन तक...’

सन्ध्या तक फिर कान्तिदत्त मौन ही रहे। उनकी अवस्था में सुधार देखकर सब ही प्रसन्न हो रहे थे। रात्रि को देवी अपने प्रकोष्ठ में आई तो एक अत्यन्त स्वरूपवान् पुरुष को वहाँ बैठा पाया। देवी ने द्वार बन्द करके पुरुष को हृदय से लगा लिया—“विशालाक्षी ! तू अपना वेश क्यों नहीं परिवर्तित कर लेती। क्यों अपने को छुपाना चाहती है रानी !” अत्यधिक स्नेह से देवी ने कहा।

“अब तो मैं विशाल देव हूँ। परसों से ही तुम से भेंट करने का अवसर खोज रही थी, किन्तु तुम हो कि तुम्हें तो किसी से भेंट करने की...”

बात काटकर देवी ने कहा—“नहीं, नहीं, मैं तो स्वयं तुम से मिलने को व्याकुल थी पर तूने यह ढोंग जो फैला रखा है ? उससे साहस नहीं होता था। कह तेरे श्वशुर तो कुशलपूर्वक हैं।”

“हाँ, सो तो हैं। इस समय तेरे पास एक आवश्यक कार्य से आई हूँ।” विशालाक्षी ने कातर स्वर में कहा।

“बहिन ! मैं भाग्यहीना हूँ, किन्तु हूँ तो तेरी वही सुलभा जिसे तू किसी दिन रात-रातभर सुमन-चयन में बरबस ही

लगाये रखती थी जिससे उषाकाल से पूर्व ही माँ उमा की प्रतिमा का सुन्दर शृङ्गार हो सके.....” विशालाक्षी ने उसे रोककर कहा—“तेरा स्नेह मुझे आज भी स्मरण है किन्तु बहिन ! हम सब ही अभागी निकलीं...नवदेवी अज्ञात है, मैं तो चिर-वियोगिनी हूँ ही...शुभा बेचारी भी....”

“सो बात आज जाने दो बहिन...भगवान् शंकर, माँ पार्वती, तुम सब का मिलन-संयोग जुटा दें किन्तु मैं....”

“बहिन !” विशालाक्षी देवी से लिपटकर रोने लगी। दोनों सखियाँ बड़ी देर तक रोती रहीं। फिर विशालाक्षी ने कहा—“बहिन, हमारा मिलन अब कठिन जान पड़ता है। यदि किसी दिन मैं न रहूँ और वह आयें तो तुम....” विशालाक्षी का स्वर भंग हो गया। कुछ ठहरकर उसने कहा—“कह लेने दो बहिन ! फिर न जाने अवसर मिले अथवा नहीं। तुम उनसे कह देना कि विशालाक्षी ने वही किया जो कि एक गढ़ मंडलेश्वर की पत्नी के गौरव के अनुरूप था।” दोनों सखियाँ उस अन्धकारमयी रात्रि में बड़ी देर तक रोती रहीं।

रक्तदान

नवनाग ने उच्च स्वर में कहा—“भाइयो ! आज का युद्ध देश के भाग्य का निर्णायक युद्ध है । इस लम्बे-चौड़े मैदान के उस ओर उन व्यक्तियों का विशाल दल हमारे स्वागत को खड़ा है जो इस देश के वासी नहीं हैं, जिन्हें इस देश के मानवों से कोई भी सहानुभूति नहीं है, जो उनके सुख-दुःख के साथी भी नहीं हैं और भागी भी नहीं हैं । इस पवित्र भूमि का कण-कण आज तुम्हें पुकार रहा है । उनके अस्त्रों द्वारा किये जाने वाले स्वागत का उत्तर देने के लिए...वीरो · जिन्हें पत्नी की...सन्तान की...घर-बार की स्मृति तनिक भी कष्ट दे रही हो वह लौट जायँ इसी समय लौट जायँ । केवल वही भाई मेरे साथ रहें जो प्राणों की आहुति देकर ही माँ गंगे की पवित्रता के साक्षी बनना चाहते हों वर्षों पूर्व... लगभग अर्द्ध शती पूर्व...इस देश को जिन्होंने दासता की शृंखला में जकड़ा था वह आज भी इसके भाग्य-विधाता बने बैठे हैं...बहिनों की पवित्रता...माँ का गौरव · गंगा की पावनता जिनके निकट कुछ भी महत्त्व नहीं रखती है उन्हीं मलेच्छों के विरुद्ध आज यह हमारा धर्म-युद्ध है । इस धर्म-युद्ध में कौन मेरे साथ रहेगा ?” गम्भीर सिंहनाद गूँज उठा ।

नवनाग ने सुदूर आकाश में उदय होती लालिमा की ओर दृष्टि देखा, फिर कहने लगे—“सैनिको ! वीरो !! भाइयो !!! हमने आज देशोद्धार का पवित्र व्रत लिया है । आज दिन भगवान् शंकर के निकट हमें केवलमात्र यही प्रार्थना करनी है कि वह हमें रण-क्षेत्र में वह शक्ति दें...माँ काली हमारे बाहू उस ज्वाला से

भर दें जिससे हम मलेच्छों के भार से धरती को मुक्त कर सकें। आज माँ हम से रक्तदान माँग रही है। हमें रक्तदान करना ही होगा। हमारे रक्त से भगवान् शंकर का शृंगार होगा। माँ के दूध की लाज रखकर ही आज विश्वभर के सम्मुख हम सिर ऊँचा करके खड़े हो सकेंगे। माना कि कुशन-साम्राज्य एक बड़ी भारी शक्ति है, किन्तु देवादिदेव महादेव के सेवक सदैव भय-शून्य ही रहते हैं। इस पाप-पूर्ण साम्राज्य की शक्ति तो स्वयं शम्भु हर ही चुके हैं। हमें तो निमित्त मात्र ही बनना है। बोलो जय शिव-शंकर !....”

उच्च जयध्वनियों से पृथ्वी-आकाश काँप उठा। अद्भुत उत्साह से सब ही सैनिक सिंहनाद कर रहे थे। दूर-दूर तक केवल मात्र शिरस्त्राण ही दिखाई दे रहे थे। स्वयं नवनाग भार-शिव एक श्वेत अश्व पर श्वेत मोतियों की झालर लगा छत्र लगाये हुए थे। उनकी ध्वजा पर ताड़ का ऊँचा वृक्ष सुनहरे रंग से कड़ा हुआ था। ध्वजा बहुमूल्य केसरिया रंग के रेशमी वस्त्र की थी। उषा-काल की हलकी लालिमा में केसरिया ध्वजा बहुत ही सुन्दर दीख पड़ती थी। स्वर में प्रलय-ज्वाला भरकर नवनाग ने कहा—“तब आज के युद्ध का आरम्भ होगा शिव-स्तुति से और तत्पश्चात् शल्य का पुरातन कण्ठ सुनायेगा प्रलय-गीत।” गुरुदेव का तो उसी समय से पता नहीं था जब से कि ये लोग मध्य प्रदेश से चले थे, किन्तु सबको पूर्ण विश्वास था कि वह सेना के साथ-साथ अज्ञात रूप से कहीं-न-कहीं चल ही रहे होंगे। आवश्यकता पड़ने पर वह अधिक दूर नहीं होंगे। वृद्ध शल्य और भी अधिक वृद्ध हो गया था। वह एक हाथी पर बैठा था। हाथी सेना के ठीक सामने लाया गया। उसे देखते ही नवनाग ने कहा—“बाबा ! आज तुम्हारी जीवन भर की तपस्या का फल प्राप्त होने का समय आया है। आज भी शिव-स्तुति और युद्ध-गान अद्वितीय होगा।

करो आरम्भ बाबा !”

शल्य ने आरम्भ किया और सहस्रों कण्ठों से एक साथ ध्वनि निकलने लगी—

“चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखर पाहिमाम् ।
 चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखर, चन्द्रशेखर रक्षमाम् ॥
 रत्नसानु शरासनं रजताद्रिशृङ्ग निकेतनम् ।
 सिंजिनीकृत पन्नमेश्वर मच्युतानन सायकम् ॥
 क्षिप्रदग्धपुरत्रयं त्रिदिवालयैरभिवंदितम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 पंचपादप पुष्पगन्ध पदाम्बुजद्वय शोभितम् ।
 भाल लोचन जातपावक दग्ध मन्मथ विग्रहम् ॥
 भस्मदिग्ध कलेवरं भवनाशनं भव भव्ययम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 मत्तवारण मुख्यचर्म कृतोत्तरीय मनोहरम् ।
 पंकजासन पद्मलोचन पूजितांग्रिसरोरुहम् ॥
 देवसिन्धु तरंग सीकर सिक्त शुभ्र जटाधरम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 यक्षराजसखं भगाक्षहरं भुजंग विभूषणम् ।
 शैल्यराजसुता परिष्कृत चारुवामकलेवरम् ॥
 द्वेढनीलगलं परश्वधधारिणामृ गधारिणम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 कुण्डली कृत कुण्डलेश्वर कुण्डलं वृष वाहनम् ।
 नारदादि मुनीश्वर स्तुत वैभवं भुवनेश्वरम् ॥
 अन्धकांतक माश्रिताभर पादपम् शमनान्तकम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 भेषजं भवरोगिणाभाखिला पदामपहारिणम् ।
 दक्ष-यज्ञ विनाशनं त्रिगुणात्मकं त्रिविलोचनम् ॥

मुक्ति-भुक्ति फलप्रदं सकलाध संघ निर्वहणम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 भक्तवत्सल मार्चितं निधिभक्त्यं हरिदम्बरम् ।
 सर्वभूत पतिं परात्परमप्रमेय मनुत्तमम् ॥
 सोमवारिन भूहुताशन सोमपानि खलाकृतिम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 विश्वसृष्टि विधायनं पुनरेव पालन तत्परम् ।
 संहरन्त मपि प्रपञ्चम शेष लोक निवासिनम् ॥
 क्रीडयन्त महर्निशं गणनाथ यूथ समन्वितम् ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥
 मृत्युभीत मृकंड सूनुकृतस्तवं शिव सन्निधौ ।
 यम कुत्र च यः पठेन्न हि तस्य मृत्युभयं भवेत् ॥
 पूर्णमायुर रोगितामा खिलार्थं सम्पदमादरम् ।
 चन्द्रशेखर एव तस्य ददाति मुक्ति भयन्ततः ।
 चन्द्रशेखर माश्रये मम किं करिष्यति वै यमः ॥

अन्त तक स्वर ऊँचे हो गये थे । गगन-मण्डल मधुर ध्वनि से भर उठा था ।

स्तुति के स्वर धीमे पड़ने-पड़ते सब ही मन्त्र-मुग्ध-से हो रहे थे । वृद्ध कीर्तिप्रभु के गण्डस्थल अश्रुजल से भीग गये थे । नवदेवी, वीरसेन और अनन्ता भी अश्रु-मग्न थे । आर्य नवनाग के विनीत नेत्रों से जान पड़ता था कि अग्नि-वर्षा हो रही है । उनके नयनों में करुणा का स्थान परम् भयंकर मरण-मन्त्र ले रहा था । शल्य स्वयं भी करुणा विगलित हो उठा था । केवल नवनाग, चद्रभाल और विजया के नेत्र जल-से रहे थे । उन्होंने केवल धीरे से कहा—“जय शिव !” गम्भीर वातावरण में मानो सब ही को जान पड़ा कि शंकर का वरद हस्त उसी के शीश पर रखा है । नवनाग ने समुद्र की-सी गम्भीरता से कहा—“शंकर

हमारे सहायक हैं। बाबा, अब गाओ तो एक बार प्रलय-गान जिससे धरती-आकाश काँप उठे।”

शल्य का क्षीण वृद्ध कम्पित स्वर धीरे-धीरे स्थिर होने लगा। गान के शब्द बिखरते जा रहे थे। घनी स्तब्धता में सुनाई दे रहा था केवलमात्र भीषण गान...मरण-ध्वनि... “पवित्र आर्यावर्त की भूमि पर मलेच्छ क्यों ? इस पावन देवभूमि पर अनार्य क्यों ? इस पतित-पावनी के तट पर अश्वमेध यज्ञ के स्थान पर अनाचार क्यों ? इस परम-पावन रज के कण-कण में मन्त्रगान ध्वनि के स्थान पर वेदनाजन्य स्वर क्यों ? इस आर्यभूमि सतियों के देश में सतीत्व का मूल्यांकन क्यों ?...क्यों ?...क्यों ??...क्यों ??? यह सब क्यों ? क्या शंकर का तृतीय नेत्र अभी खुला नहीं है ? क्या उमा...शिवप्रिया अभी इस ओर दृष्टि-पात नहीं कर रही हैं ? क्या रुद्रपति के गण अभी इधर नहीं आयेंगे ? क्या अब भी प्रलय आने में विलम्ब है ? हे शंकर ! अब तो अपना तृतीय नेत्र खोलो। हे शिव ! ताण्डव-नृत्य करो...विश्व को भस्म कर दो...हे संहार के देवता ! संहार करो...ध्वंस करो...पृथ्वी आर्त्तनाद कर रही है...यह क्या ? यह कौन आ रहा है ? जिसने सिर पर शिवलिंग धारण किया हुआ है...जिसके नेत्रों से भयंकर ज्वालाएँ निकल रही हैं...जिसका धनुष-बाण अश्व के चरणों तक विस्तृत है—जिसका शिरस्त्राण सूर्य के प्रताप की भाँति प्रकाशवान् है, जिसके सिंहनाद से दशों दिशाएँ काँप उठी हैं...जिसके पराक्रम से दुष्टों के हृदय काँप रहे हैं...यह अत्याचारी वर्ग की पत्नियों के नेत्रों में अजस्र जलधाराएँ उमड़ाने वाला कौन है ?

यह भारशिव है...यह योगी है यह शिवदास है...शिव ने इसे अपने कार्य को सम्पन्न करने के लिए पृथ्वी पर भेजा है। यह धरती को मलेच्छों, अत्याचारियों, अन्यायप्रिय व्यक्तियों से शून्य

कर देगा यह...यह न्याय की स्थापना करेगा । जन-जन के कण्ठ से निकले हुए जयनाद के स्वरों से अभिषिक्त यह शिवनाग विश्व को दुःख, दैन्य, वेदना, लांछना से मुक्त करेगा...करेगा... करेगा...अवश्य करेगा ।

गान की अन्तिम पंक्तियों के समाप्त होने के पश्चात् सहस्रों कण्ठों से एक बार ही गम्भीर जय-ध्वनि वायुमण्डल में गूँज उठी । जान पड़ा कि सारे व्योम में एक ही नाद व्याप्त हो रहा था—“जय नवनाग ! जय भारशिव !” जयनाद हो चुकने पर नवदेवी ने दाहिने हाथ से बायें हाथ की कनिष्ठा अँगुली चीरकर रक्त निकालकर उससे नवनाग के भाल पर सर्व-प्रथम तिलक किया । तत्पश्चात् कीर्तिप्रभु, वीरसेन और अन्य सब ही उच्च पदस्थ महानायकों और नायकों के भाल पर तिलक लगाया । मन-ही-मन वह कह रही थीं—‘हे शंकर, हे अनाथों के नाथ ! भक्तों की लज्जा रखना तुम्हारे ही हाथ है । हे देवादिदेव महादेव ! हे महारुद्र ! तुम्हारा ही आश्रय है लाज रखना प्रभो !’ उसके कठोर, शुष्क नेत्रों में भी जल भर आया । उसने एक बार फिर कहा—‘हे पार्वती, हे सती शिरोमणी ! लज्जा रखना शिवप्रिया !’ उच्च स्वर में वह केवल इतना ही कह पाई—“भाइयो ! आज भगिनी का रक्तदान प्रमाणस्वरूप भाल पर तिलक रूप में धारण करके युद्ध में जा रहे हो । इसकी लाज रखना । यदि जीवित रहे तो माँ-बहिनों की रक्षा होगी । अनेक माताओं-भगिनियों की लाज बचेगी । और यदि गोलोक-वासी भी हो गये तो इस रक्त का पूर्ण प्रतिदान देकर ही जाना । इतनी ही मेरी विनय है । शंकर तुम्हारे दाहिनी ओर सदैव विराजमान रहें ।” अग्नि ज्वालामयी नवदेवी के मुख से करुण वाणी अत्यधिक करुण स्वर में सुनकर सबके हृदय भर आये । नवदेवी लौटकर अपने स्थान पर आ गई । कीर्तिप्रभु ने अथ

नवनाग की ओर देखकर कहा—“सम्राट, प्रस्थान-वेला उपस्थित है, अब आज्ञा हो।”

“प्रस्थान किया जाय।” सेनाएँ चलने लगीं। नवदेवी का हृदय धड़कने लगा। जीवन भर में वह इतनी कातर कभी भी नहीं हुई थी। पुरुष सो भी सैनिक वेश में अश्वारोहिणि नारी को कातर होने का न तो समय ही था और न अवसर ही। उसने मन-ही-मन कहा—‘यह क्या ? यह असमय की व्याकुलता क्यों ? वर्षों पूर्व हे हृदय ! जब तुम्हें वे छोड़ पाये थे तब तो इतने व्याकुल नहीं हुए थे ? अब ?? वह कैसे होंगे ? नहीं, नहीं मैं योद्धा हूँ, मुझे यह सब शोभा नहीं देता ? किन्तु अभागे हृदय तू नारी का हृदय क्यों हुआ ? मुझे बल दो माँ ! अम्बे ! गौरी ! मुझे शक्ति प्रदान करो। माँ ! मैंने देश-हितार्थ उन्हें कष्ट दिया था, क्या उसी का यह परिणाम है माँ !...मैं हाय ! नारी क्यों हुई ?’ उसने उमड़ते हुए अश्रुजल को भीतर-ही-भीतर रोक लिया। उसका हाहाकार करता हृदय किसी प्रकार सँभल ही नहीं रहा था। नवनाग ने कहा—“नवदेवी !” नवदेवी ने बलपूर्वक हृदय को संयमित करते हुए कहा—“चलो, भाई !”

“आज का दिन हमारे जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दिन है।”

“सो ही तो। विजय निश्चय तुम्हारी ही है, भैया !” दोनों पथ पर अग्रसर हुए।”

बालक वीरसेन का आक्रमण

“आठ दिन बीत गये। प्रतिदिन सैकड़ों योद्धा प्राणों पर खेलकर युद्ध करते हैं। वीरों के रक्त से पृथ्वी स्नान कर उठी है। हमारे आधे से अधिक वीर गोलोकवासी हो गये फिर भी...”

“जिनके कार्य का भार लेकर हम युद्ध-क्षेत्र में उतरे हैं वह स्वयं यह सब विचारेंगे। हमारा धर्म तो युद्ध करना है वह हम अन्तिम श्वास तक करते ही जायँगे। शंकर शिव ही करेंगे।” अपूर्व तेजपूर्ण मुख पर हलकी-सी मुस्कान लाकर कहा नवनाग ने।

“सो तो होगा ही किन्तु...”

“धर्म-युद्ध में किन्तु-परन्तु के लिए स्थान ही कहाँ है ?”

“तब आज रात्रि को तृतीय पहर में शत्रु-शिविर पर दक्षिण ओर से आक्रमण हो।” नन्हें-से बालक वीरसेन ने कहा।

“दक्षिण ओर से आक्रमण करने का अर्थ है आक्रमणकारियों के लिए आत्महत्या यद्यपि उम अवस्था में विजय निश्चित हो सकती है।” नवनाग ने तनिक चिन्तापूर्ण स्वर में कहा।

“पिता जी ! इसके अतिरिक्त और उपाय भी क्या है। शत्रु-सैना दो नदियों के बीच के स्थल पर है। उत्तर और पश्चिम में बड़ी हुई नदी का जल उसकी रक्षा कर रहा है। यही कारण है कि हमारे उस ओर से किये जाने वाले आक्रमण उतने सफल नहीं हो पाते। पूर्व की ओर उनके सबसे भयंकर योद्धा स्थित हैं। योद्धाओं की तो उतनी चिन्ता नहीं, किन्तु उधर से प्राण दे सकते हैं। सफलता की आशा अधिक नहीं है। दक्षिण की ओर मार्ग

संकीर्ण है। उधर से आक्रमण करने पर पूर्व के योद्धा अवश्य उधर ही दौड़ पड़ेंगे, अतः आक्रमणकारी आगे से भयंकर योद्धाओं से युद्ध करने को बाध्य होंगे और उत्तर-पश्चिम के सैनिक उन्हें पीछे से घेर लेंगे। अतः अधिकतर सम्भावना यही है कि दक्षिण की ओर से आक्रमण करने वाली सेनाएँ बुरी तरह पिस जायँगी। किन्तु उतनी ही अधिक हमारी सफलता की आशा हो जायगी। पूर्व की ओर से आक्रमण करने पर उन्हें निश्चय ही हराया जा सकता है, क्योंकि दक्षिण की ओर से भागने को मार्ग नहीं होगा और उत्तर-पश्चिम की ओर जाने पर नदी का बड़ा हुआ जल उन्हें नष्ट कर देगा।” वीरसेन ने दृढ़ता से कहा।

वृद्ध कीर्तिप्रभु ने नवनाग की ओर देखकर कहा—“वीरसेन ठीक कहते हैं प्रभो ! इसके अतिरिक्त अन्य उपाय और है ही क्या ? किन्तु दक्षिण-ओर से आक्रमण कौन करेगा ?”

“मैं करूँगा।” बालक वीरसेन ने कहा।

“तुम... तुम तेरह-चौदह वर्ष के बालक इतना भीषण कार्य...” नवनाग ने चिन्तित स्वर में कहा।

“पिता जी ! आज तक आपने मेरी कितनी ही बार तो परीक्षाएँ ली हैं। पित्रा से शिक्षा पाकर अहंकार करने की तो मेरी क्षमता नहीं है, किन्तु फिर भी यह प्रार्थना अवश्य करूँगा कि मुझे इस बार जाने ही दीजिये। इतना तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपको इस बार मुझे जाने की आज्ञा देकर पश्चात्ताप नहीं करना होगा।” उसके एक-एक शब्द से दृढ़ता टपकती थी।

“प्रभो ! वीरसेन बालक होते हुए भी युद्धविद्या में अत्यन्त कुशल एवं दक्ष हैं। इन्हें जाने दीजिये। चन्द्रशेखर स्वयं जिसके रक्षक हों उसके लिए चिन्ता ही क्या है ?”

“अच्छा ! तब वैसा ही हो। पूर्व-ओर से स्वयं मैं और चन्द्रभाल आक्रमण करेंगे। महानायक कीर्तिप्रभु आप वीरसेन

के साथ जाइयेगा । नवदेवी रक्षित सेना के साथ अवसर की प्रतीक्षा में रहेंगी ।”

“ठीक है । गंगा के उस पार जाते ही हमें कान्तिदत्त, राज-वत्स, श्रीवत्स, शंखचूड़ आदि मिल जायेंगे । इस बीच उन्होंने भी शक्ति उत्पन्न की है । कान्तिदत्त ने तो समाचार मिला है कि चण्डीगढ़ पर भी अधिकार कर लिया है । अतः इस युद्ध में विजय पाने का अर्थ है उत्तर भारत से मलेच्छों को निकाल भगाना ।” कीर्तिप्रभु कह रहे थे । नवदेवी के मुख पर दो बार विचित्र-सी चमक आई और चली गई । वह कुछ और अधिक जानना चाहती थीं, किन्तु लज्जा ने स्वर निकलने ही नहीं दिया । चन्द्रभाल ने नवदेवी का असमंजस देख लिया, किन्तु कुछ कह पाने का अवसर ही कहाँ था । दो जोड़ा और भी चतुर नयन यह कौतुक देख रहे थे किन्तु वह भी चुप ही रहे । वह थे अनन्ता के चंचल नेत्र । नवनाग का हृदय भारी हो गया । उन्हें जान पड़ा कि इस धर्म-युद्ध में उन्हें ही अपनी सर्वाधिक प्रिय वस्तु की आहुति देनी पड़ेगी । किन्तु... कठिनाई से अपने को सँभालकर उन्होंने कहा—“तब फिर रात्रि के तृतीय प्रहर यही हो ।” सब लोग विश्वास करने के लिए चले गये । नवनाग ने मन-ही-मन कहा—‘हे त्रिशूलपाणि ! अपनी सर्वाधिक प्रिय वस्तु एकमात्र पुत्र तुम्हारे कर्म के लिए अर्पित कर रहा हूँ... शंकर ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो ।’ भयंकर योद्धा के नयनों में जल था । रात्रि के तृतीय प्रहर में आक्रमण की तैयारियाँ होने लगीं । चिन्तित मन से नवनाग कवच, शिरस्त्राण आदि धारण करके खड़े ही हुए थे कि न जाने कैसे गुरुदेव ठीक उनके सम्मुख आकर खड़े हो गये । नवनाग ने चरण छूकर प्रणाम किया । गुरुदेव ने भी मीठे स्वर में कहा—“नवनाग ! चिन्ता न करो स्वयं गौरीशंकर तुम्हारे सहायक हैं । वीरसेन अल्पायु नहीं हैं ।”

“गुरुदेव !” नवनाग केवल इतना ही कह पाये । गुरुदेव ने धीरे से कहा—“शुभ मुहूर्त है, आक्रमण करो । शंकर तुम्हारे साथ हैं ।” नवनाग कुछ भी तो कह नहीं पाये ।

दक्षिण की ओर से भयंकर आक्रमण हुआ जान शत्रु-सैन्य के प्रबल योद्धा पूर्व से दक्षिण की ओर घूमे । प्रहर रात्रि और दिवस भर घमासान युद्ध हुआ । बालक वीरसेन दोनों हाथों से असि-चालन कर रहे थे । विद्युत की-सी चपलता से शत्रु-सैन्य में घुसकर वह अद्भुत रीति से संहार कर रहे थे । आगे टिड्डी दल की भाँति कुशान वीरों का सामना और पीछे से संकीर्ण मार्ग पर भी उत्तर-पश्चिम की ओर से कुशान वीर आ गये थे । अपनी पाँच सहस्र सेना के साथ कार्तिकेय की भाँति अतुल शौर्यवान् कुमार वीरसेन चारों ओर से शत्रुओं से घिर गये । असंख्य शत्रु-सेना के बीच उनकी वीरता अद्वितीय थी । वृद्ध कीर्तिप्रभु यथासम्भव कुमार के साथ ही रहना चाहते थे, किन्तु कुमार शीघ्रता से शत्रु-सेना के बीच में घुसते ही जा रहे थे । प्राणों की चिन्ता ही किसे थी केवल अमर कीर्ति छोड़ जाना मात्र ही लक्ष्य था ।

उधर अचानक पूर्व दिशा के हलके पड़ते ही शत्रु-सेना पर प्रबल आक्रमण हुआ । दस सहस्र सैनिकों के साथ स्वयं सम्राट् नवनाग प्रबल वेग से चालीस सहस्र सैनिकों के व्यूह को भेदकर कुमार की सेना से मिल जाने के उद्देश्य से भयंकर युद्ध में रत थे । काल-भैरव की भाँति शत्रु-सैन्य पर टूट पड़े थे । धीरे-धीरे शत्रु-सेना क्षीण होने लगी । उधर से नवदेवी कुमार को घेरे हुए शत्रु-सेना पर पीछे से टूट पड़ी । शत्रु-मित्र की पहचान करना भी कठिन हो गया । नर-मुण्ड से धरती पटने लगी । चीत्कारों से व्योम गूँज उठा । अचानक कुमार की दाहिनी कनपटी के निकट एक विष से बुझा तीर लगा । कुमार वीरसेन ने बायें हाथ से तीर निकालकर फेंक दिया । रक्त वेग से वह निकला ।

किन्तु कुमार उसी प्रकार युद्ध में रत रहे। आधी घड़ी तक युद्ध करने पर उनके शरीर में निर्बलता आने लगी। कीर्तिप्रभु का ध्यान कुमार वीरसेन की ही ओर था। पीछे की ओर तनिक हलचल से यह तो जान पड़ता था कि पीछे से किसी ने शत्रु-सेना पर आक्रमण किया है किन्तु अभी आधी ही सेना पीछे की ओर मुड़ी थी। संख्या अधिक होने के कारण शीघ्र ही युद्ध समाप्त होने की आशा नहीं जान पड़ती थी। कुमार वीरसेन की रक्षा भी आवश्यक ही थी, किन्तु प्राणपण से प्रयत्न करके भी कीर्ति-प्रभु कुमार वीरसेन के निकट पहुँच ही नहीं पा रहे थे। अचानक निकट ही के किसी छोटे से डील-डौल के योद्धा ने कुमार के निकट पहुँचकर अपना अश्व छोड़ दिया। वह उच्चकर कुमार के अश्व पर ही जा बैठा। उधर दुर्बलता से कुमार वीरसेन का शरीर अपने अश्व पर गिर गया, किन्तु उससे पूर्व ही इस छोटे-से योद्धा ने कुमार के शरीर को एक हाथ से सँभालकर दूसरे हाथ से असि-संलाचन करते हुए व्यूह से बाहर निकलने का मार्ग बनाना आरम्भ किया, किन्तु मार्ग था ही किधर। वृद्ध कीर्तिप्रभु ने यह सब देखा किन्तु समीप आने का प्रयत्न करके भी असफल ही रहे। उधर शत्रु-सेना में निराशा-सी छा गई। इधर कुमार और उधर नवनाग की भयंकर मार से शत्रु-सेना तितर-बितर होकर भागने लगी। बड़ी हुई नदी में शत्रु-सेना के बड़े-बड़े बजरे पड़े हुए थे। युद्ध आरम्भ होने के कुछ ही देर पश्चात् जल-सेना युद्ध एवं आवश्यकता पड़ने पर जलमार्ग से भागने की तैयारी करने लगी। इसी समय एक प्रियदर्शी सैनिक ने आकर एक जलयान के द्वार पर तीन बार थपकी दी। भीतर से एक साधारण-सी दासी सरीखी स्त्री बाहर आई। सैनिक ने दासी के कान में कुछ धीरे से कहा—दासी ने उसे संकेत से भीतर बुला लिया। दोनों भीतर जाकर बैठ गये। दासी ने सैनिक से कहा—

“कहो, क्या समाचार है ?”

“समाचार तो शुभ हैं शुभा ! किन्तु मेरा हृदय काँप रहा है ।”

“क्यों ?”

“वह यहीं है । इस समय दोनों दलों में भयंकर युद्ध हो रहा है । मैंने शत्रु सैन्य की अवस्था कुमार वीरसेन को गुप्तचरों द्वारा कहलवा दी थी । उसी योजना के अनुसार आक्रमण भी हो गया । शंकर की कृपा हुई तो मलेच्छों को करारी हार खानी पड़ेगी किन्तु...”

“किन्तु क्या बहिन...?”

“कहीं...कहीं...”

“उनके दर्शन हुए ?”

“नहीं हो सके, किन्तु वह यहीं हैं ।”

“तब क्यों नहीं मिली ?”

“कहीं वह शत्रु-सेना में देखकर अविश्वास करें तब ?”

“पागल हुई हो क्या ? चन्द्रभाल तुम पर अविश्वास करेंगे ?”

“शुभा ! बहिन !!” विशालाक्षी का सारा शरीर काँप रहा था । शुभा ने स्नेह से उसका सिर अपनी गोद में रखकर थपथपाया ।

“बहिन ! उनके मिलन की ही क्षीण आशा से तुम्हारे सा किसी प्रकार शत्रु सैन्य में घुसकर यहाँ तक पहुँची, किन्तु अब तो साहस भी साथ नहीं दे रहा है ।”

“चिन्ता न कर, विजय हमारी ही होगी और उस समय...

“उस समय तक हम यहाँ कैसे रह पायेंगी बहिन विशालाक्षी ने सैनिक वेश में ही उत्सुकता से पूछा ।

“रहना ही होगा, और इन्हें भी सकुशल जलमार्ग लौटने नहीं देंगे । अन्यथा कुशल नहीं है । भारत के भाग्य

निपटारा आज और यहीं हो जाने दो ।”

“ठीक ही तो है । अच्छा, तुम तनिक-सा साहस करके इस नौका के दक्षिण भाग की सब ही नौकाओं के तल-भाग में विस्फोटक पदार्थ के द्वारा छेद कर दो और मैं इस ओर की नौकाओं में करती हूँ ।”

“किन्तु इतना विस्फोटक पदार्थ ही कहाँ मिलेगा ?”

“विस्फोटक पदार्थ मैं लेती आई हूँ । इतना तो ले ही लो । यदि इससे काम नहीं चला तो मैं खड्ग को प्रयोग में लाकर नौका-तल में छेद कर दूँगी । किन्तु किसी प्रकार भी हो इसी घड़ी-दो घड़ी में सब ही नौकाओं को व्यर्थ करना होगा । युद्ध की अवस्था शिव ही जान पड़ती है । उधर से भगदड़ मचते ही नौकाओं की आवश्यकता पड़ेगी ।”

“अच्छा, किन्तु अत्यन्त सावधानी से कार्य करना । यह कुशन क्रूरता में अद्वितीय हैं ।”

“जानती हूँ ।”

शुभा ने धीरे से विशालाक्षी के कान के पास मुख ले जाकर कहा—“मिलन के उपलक्ष में दासी को क्या पुरस्कार मिलेगा ?” उत्तर में विशालाक्षी ने तनिक लजाकर घूँसा दिखाया । शुभा मुस्करा दी ।

“ठीक, यही पुरस्कार हमारे लिए ठीक है । अच्छा चन्द्रभाल मिलेंगे तो कहूँगी तुम्हारी दुष्टता की बात ।”

वह इस बार तनिक मुस्कराई । हँसते हुए उसने कहा—“उन्हें ही पुरस्कार में ले लेना शुभा !” शुभा ने भी हँसते हुए ही कहा—“कृष्ण राधिका के अतिरिक्त किसी का हो ही कब सकता है । यह अश्वासन है तब ही तो राधिका उन्हें पुरस्कार में दे डालने को उतावली हो रही है ।”

अचानक विशालाक्षी तनिक उदास हो गई । शुभा ने हँसकर

कहा—“अब अधिक विलम्ब है ही कहाँ चतुरा नागरी ?”

“चन्द्रशेखर की इच्छा पर ही सब निर्भर है। अच्छा, अब जाती हूँ।”

दोनों सखियाँ चतुराई से जल के भीतर तनिक दूर तक तैर-कर नौका-दल तक पहुँच गईं। वृहत् नौका-दल दूर तक खड़ा था। भागते हुए सैनिकों का स्वर-चीत्कार निकट आता जान पड़ता था। दोनों अपने-अपने स्थानों पर शीघ्रता से नौकाएँ व्यर्थ करने के प्रयत्न कर रही थीं। विशालाक्षी के पास विस्फोटक पदार्थ बहुत थोड़ा था। खड्ग से काटने से शब्द होने का भय था। फिर भी उसे खड्ग का ही आश्रय था। नाविक कुछ ही दूर थे, अतः पकड़े जाने का भी भारी भय था ही। फिर भी काम चल रहा था। यद्यपि उसका दुबला-पतला व्रत-उपवास से दुर्बल शरीर थक गया था फिर भी वह शीघ्रता से कार्य कर रही थी। कोलाहल बढ़ता ही गया। अब भी आठ-दस नौकाएँ ठीक ही थीं। जान पड़ता था कि सैनिक निकट ही आ पहुँचे हैं। भयानक कोलाहल में विशालाक्षी प्रयत्न कर रही थी कि शेष नौकाओं को भी नष्ट करके कहीं भाग चलें। अचानक भागते हुए शत्रु निकट ही पहुँच गये। खड्ग से नौका को नष्ट करती हुई विशालाक्षी की पीठ में एक विष-व्याप्त बाण घुस गया। वह गिर पड़ी अवश होकर। गिरते-गिरते उसके बायें कंधे में एक तीर और आ घुसा। सम्भवतः बाण चलाने वाला निकट आकर उसे देखना चाहता था कि विशालाक्षी ने पूरे बल से उसकी छाती को ही लक्ष्य करके खड्ग चला दिया। क्षत-विक्षत योद्धा व्रण खाकर कुछ दूर पर ही गिर पड़ा। विशालाक्षी के शरीर भर में विष व्याप्त हो रहा था। शत्रु-सेना नौकाओं में चढ़कर भाग रही थी। भयंकर कोलाहल में कुछ दूर जा-जाकर नौकाएँ बढ़ी हुई नदी के जल में मग्न होती जा रही थीं। इसी समय दौड़ती

हुई शुभा ने आकर देखा, बहुत सारे रक्त से सनी हुई खेत्रपल्ल की विशाल मृत देह और निकट ही विशालाक्षी अपनी अन्तिम श्वासों में। विशालाक्षी ने अतीव कष्ट से कहा—“शुभा !”

“बहिन !” कहकर अश्रुजल में डूबी हुई शुभा उसके शरीर से लिपट गई।

“जल !” शरीर में अग्नि व्याप्त हो रही थी। शुभा ने नदी के जल से अँजलि भरकर विशालाक्षी के मुख में डाली। बड़े कष्ट से विशालाक्षी ने कहा—“उनसे...कह...देना...कि मैं...ने वही... किया जो कि...भालवंश...की वधु के...उपयुक्त था...” शुभा रो रही थी।

शत्रु-सेना भाग चुकी थी। पीछा करते हुए भारशिव सेना के सैनिक आ रहे थे। दूर से एक सैनिक ने बाल बिखराये हुए एक रमणी को नदी के हलके-से जल में बैठे देखा। अश्व दौड़ता हुआ वह निकट ही आ गया। रमणी ने उसकी ओर देखा...सैनिक का मुख शिरस्त्राण और रक्त से लिप्त था। हलके स्वर में...क्षीण-से स्वर में ‘भालवंश’ सुनकर वह तुरन्त अश्व की पीठ से जल में कूद गया...विशालाक्षी का शिरस्त्राण गिर गया था। उसके लम्बे-सुन्दर घँघराले केश उसके मुख के चारों ओर बिखरे हुए थे। कन्धे से निकलते हुए रक्त से धरती लाल हो रही थी। शुभा उसका सिर अपनी गोद में रखे हुए थी। सैनिक अचानक चिल्ला उठा।

“विशाला ! प्रिये !! तुम !!!” विशालाक्षी की मुँदती हुई आँखें खुल गईं। उसने क्षीण अतीव क्षीण स्वर में कहा—“नाथ !”

चन्द्रभाल रक्त-धूल से लिप्त शरीर से लिपट गया, किन्तु वह केवलमात्र शव ही तो था। शुभा यह विचित्र मिलन देख रही थी। एक शव था और दूसरा अचेत शरीर !

शुभा के नेत्रों की अश्रुधाराएँ चुकती ही नहीं थीं। वर्षों से

वियोगतप्त दो हृदयों को पृथक् करने का साहस भी उसे नहीं होता था। वह केवलमात्र मूक साक्षी बनी करुण रुदन से पृथ्वी-आकाश एक किये दे रही थी। उधर चन्द्रभाल की सेना में खोज हो रही थी। कौन जानता था कि महा वीर चन्द्रभाल धरती पर अचेत पड़ा है—प्रिया के शव से लिपटा हुआ।

कुछ देर में खोजते हुए नवनाग, वृद्ध कीर्तिप्रभु और नवदेवी वहीं तक पहुँच गये। नवदेवी शिरस्त्राण उतारकर एक अनुचर को दे चुकी थी। उनके सुन्दर चिक्लण घने-काले केश वायु में लहरा रहे थे। ये तीनों कुमार वीरसेन को खोज रहे थे। तीनों ही घायल थे, थकित थे किन्तु रणक्षेत्र का कोना-कोना छान रहे थे। विजय-प्राप्ति का उत्साह भी नहीं दिखाई देता था। कुमार वीरसेन का पता नहीं था। नवनाग बुझे हुए-से उत्साह से कीर्तिप्रभु के सान्त्वना-वाक्य सुनते जा रहे थे। सम्मुख शुभा को रोते हुए देखकर धड़कते हृदय से तीनों अश्व छोड़कर निकट पहुँच गये। नवदेवी अचानक चीख उठी—“शुभा ! तुम यहाँ कहाँ ?”

शुभा ने बुझते हुए-से स्वर में कहा—“नवदेवी ! विजय प्राप्त हुई किन्तु बहुत महँगी। स्मरण है बहिन ! वह विशालाक्षी जो किसी दिन विद्यापीठ की सर्वाधिक कुशाग्र बुद्धि सुन्दरी मानी जाती थी...” चीखने के स्वर में शुभा ने कहा—“नवदेवी ! तुम्हारी प्रिय सखी विशाला आज स्वातन्त्र्य युद्ध-देवी की भेंट हो गई... उस...”

“चन्द्रभाल !” वृद्ध कीर्तिप्रभु ने निकट आकर कहा। वह धीरे-धीरे चन्द्रभाल की अचेत देह के निकट बैठ गये। हतबुद्धि नवदेवी मूक ही शुभा की ओर देखती रही। नवनाग नदी से अँजलि में जल लाकर चन्द्रभाल के अचेत मुख पर छिड़कने लगे। उनका शंकित-उदास मन और भी खिन्न हो उठा। क्षणिक चुप रहकर नवदेवी ने कहा—“विशाला ! तुम तनिक देर प्रतीक्षा भी

न कर सकीं बहिन !”

और उसने विशालाक्षी के मृत शरीर को गोद में ले लिया । तनिक से उपचार से चन्द्रभाल को चेत हो आया । चारों ओर गुरुजनों को देखकर चन्द्रभाल उठकर बैठ गया—“सम्राट् ! क्षमा करें ।”

उदास मन से नवनाग ने कहा—“भाई !” और दुःखी चन्द्रभाल को हृदय से लगा लिया । वृद्ध कीर्तिप्रभु के नयन भर आये ।

शव की अन्त्येष्टि-क्रिया करने का प्रबन्ध करने किसी को जाना ही था, अतः वृद्ध कीर्तिप्रभु और नवनाग अपने-अपने अश्व पर चढ़े ।

विशालाक्षी के शव के निकट नवदेवी, शुभा और चन्द्रभाल ठहर गये । रात्रि के तृतीय प्रहर में ठीक उसी समय, जबकि गत रात्रि युद्ध आरम्भ हुआ था, विशालाक्षी के शव की सामरिक रीति से पूर्ण सम्मान सहित अन्त्येष्टि-क्रिया की गई । चन्द्रभाल पूर्णतया मौन ही रहे । विजया, नवदेवी और शुभा के रुदन-स्वर ने वातावरण में अतिशय करुणा उत्पन्न कर दी । सैनिकों के नयनों से भी अश्रुधारायें बह रही थीं । किन्तु चन्द्रभाल के नेत्र शुष्क थे । वह सर्वथा मौन थे । उनकी गम्भीरता से वृद्ध कीर्तिप्रभु चिन्तित हो उठे थे । वीरसेन के विषय में कुछ भी सूचना न पाने से सभी अतिशय चिन्तित भी थे । करुणा विगलित कण्ठ से सम्राट् केवल इतना ही कह सके—

“यह विजय कितनी महँगी पड़ी, भाई !” किन्तु चन्द्रभाल शुष्क नेत्रों से चिता से उठती हुई ज्वालायें ही देखते रहे । अन्त्येष्टि-क्रिया करके लौटते ही दीख पड़ा एक अश्व जिस पर दो व्यक्ति लिपटे-लिपटाये-से पड़े दिखाई पड़ रहे थे । चन्द्रभाल ने दौड़कर उन्हें उठाया । सम्राट् चीख उठे—“वीरसेन !” सबने निकट

आकर देखा कि वीरसेन और अनन्ता घायल और अचेत अश्व की पीठ पर पड़े हुए हैं। अनन्ता केवल हलके-से स्वर में कह रही थी—“उनकी रक्षा करनी ही होगी मैं उन्हें मृत्यु के मुख में नहीं जाने दूँगी।” स्वर इतना धीमा था कि कठिनाई से ही सुन भी पड़ता था किन्तु बार-बार यही शब्द अचेत बालिका के मुख से निकल रहे थे। सबके हृदय में एक हलकी-सी उत्साह की लहर तो आई, किन्तु दोनों की चिन्ताजनक अवस्था होने के कारण सब ही चिन्तित हो गये। सेवा आदि होने पर भी दोनों की मूर्च्छा दूटी नहीं। राजवैद्य ने औषधि और विश्राम की व्यवस्था की। प्रवास में जितनी सुविधाएँ हो सकती थीं, दी गईं। कई मास पश्चात् रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में मासों के थकित प्राणियों ने प्रगाढ़ निद्रा का आश्रय ग्रहण किया।

गम्भीर रात्रि का अन्धकार जिन्हें शान्ति नहीं दे सका उनमें से ही एक थे चन्द्रभाल। शिविर से कुछ दूर पर ही अन्धकार में एक छोटे-से प्रस्तर-खण्ड पर चन्द्रभाल मौन बैठे थे। उन्हें रह-रहकर अपने वृद्ध पिता और नन्हीं-सी प्रिया की स्मृति दुःखी कर रही थी। शुभा से भी उन्होंने कोई बात नहीं की थी। शुभा ने भी उन्हें सान्त्वना देते हुए केवल इतना ही कहा था कि उन्हीं के पथ पर चलती हुई विशालाक्षी उनकी ही खोज में वर्षों से भटक रही थी। उसकी वीरता की बात भी कही थी और उनके मिलन की व्याकुलता की भी और शत्रुनाश करने का उपाय करते हुए प्राणों की आहुति देने की भी। चन्द्रभाल की अपार वेदना की कसक बहुत तीव्र थी। उन्हें आशा थी आज दन तक किन्तु आज...वह सर्वथा शून्य होकर विजयमाला हाथ में लिये घर-देश लौटेंगे...वहाँ सब ही कुछ तो होगा, किन्तु...विशालाक्षी...एक वही तो नहीं होगी जिसके बिना उनका विश्व...संसार...शून्य हो जायगा। उनके नयनों में जल भी तो नहीं रह गया था। हृदय की ज्वाला असह्य

हो उठी थी। सहसा किसी का कोमल हाथ उनके कन्धे पर आ गया। वह चौंक उठे... उन्होंने धीरे से घूमकर देखा। विजया उदास मुख खड़ी थी। उन्होंने कुछ सँभलकर कहा—“तू, विजया इतनी रात्रि में। जा बेटा सो जा।”

“और आप ?”

“हाँ, मैं भी सोऊँगा, तू अभी जा।” विजया खड़ी रही चुपचाप। कुछ ठहरकर चन्द्रभाल ने फिर कहा—“विजया, तू जाकर सो रह। दिन भर के भयंकर युद्ध के पश्चात् तुझे निद्रा लेना ही चाहिए।”

“भैया, तुम चलो। अब सो जाओ। दिन के भयंकर युद्ध, शरीर पर अनेकों छोटे-बड़े व्रण लिये, मन पर इतना बड़ा आघात लिये विश्राम के बिना कैसे चलेगा ?” विजया के स्वर में माता की-सी अपार ममता थी। चन्द्रभाल सहन न कर सके। उनकी शून्य शुष्क दोनों आँखों से जल बरसने लगा। विजया ने निकट आकर उनके मस्तक पर धीरे-धीरे हाथ फेरना आरम्भ कर दिया। उन्होंने विजया के कन्धे पर मस्तक रख दिया। तनिक देर तक दोनों मौन रहे, फिर विजया ने कहा—“भैया ! भाग्य अच्छे नहीं थे। पूजनीया के दर्शन तक न कर सकी किन्तु क्या करोगे ? मेरी ओर ही देखो ना ? अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में मेरा भी ” दोनों के कण्ठ रुद्ध हो गये। दोनों के हृदय वेदना से जल रहे थे। माता की-सी ममता से विजया ने चन्द्रभाल के दोनों हाथ पकड़कर कहा—“भैया ! शिव ने हमें सब ही बन्धनों से सम्भवतः इसीलिए सर्वथा मुक्त कर दिया है कि हम उन्हीं की सेवा कर सकें। तब चलो वही करें।”

चन्द्रभाल के शब्दों में स्नेह था और था वात्सल्य। उन्होंने धीरे से कहा—“विजया ! तू नहीं समझेगी। वह मेरी प्रतीक्षा कर रही होगी। विजया ! वह जन्म-जन्मान्तर तक मेरी प्रतीक्षा

करती रहेगी....”

विजया केवल उनके मुख की ओर देखती ही रही। फिर उसने गम्भीरता से कहा—“भैया ! तब तक तुम उनके ही कार्य को सम्पन्न करो ना। वह तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगी....।”

अचानक चन्द्रभाल ने उस नन्हीं-सी बालिका का हाथ पकड़कर कहा—“विजया ! सब ही ने तो त्याग दिया था...धन, सम्पदा, मान, गौरव...तब भी वही एक मेरे साथ रही...सदा-सर्वदा रही...मैं ही उसे छोड़ आया था अकेले किन्तु वह भी तो मुझे आज सर्वथा निराश्रय करके चली गईं’ ..किन्तु बेटी तू अपने भैया को कभी छोड़कर न जाना।”

“भैया !” वह चन्द्रभाल से चिमट गई।

“बेटी !” दोनों के सम्मिलित रुदन से करुणा भी विगलित हो उठी।

विजया

शान्त, गम्भीर चन्द्रभाल उस दिन कुछ उत्तेजित थे ।

“वत्सराज !”

“भाई !”

“तुम्हें तो स्मरण भी नहीं होगा, वर्षों पूर्व तुम्हारी मातामही और विजयशूर में एक समझौता हुआ था ।”

“क्या ?”

“आज विजयशूर जीवित नहीं हैं । तुम्हारी मातामही भी भारत का उत्कर्ष काल का प्रभात देखकर गोलोक चली गईं किन्तु वह समझौता तो आज भी जीवित है । जानते हो ?” अचानक राजवत्स का मुख लज्जा से लाल हो उठा ।

भारत में मलेच्छों की सत्ता समाप्त हो गई थी । नवगाग भारशिव ने महाराजाधिराज की पदवी न लेकर केवल ‘स्वामिन्’ कहाना ही स्वीकार किया था । उन्होंने प्रथम अपनी राजधानी पद्मावती में ही रखी थी तत्पश्चात् कान्तिपुर आ गये थे । गंगा-तट पर पहुँचकर अपनी विशाल मातृभूमि का इस राष्ट्रीय संकट से मोचन करके भी नवनाग केवलमात्र शिव-दास ही बने रहे । उन्होंने जितनी राष्ट्र-सेवा की वह सब भगवान् शंकर संहारकर्ता रुद्र को अर्पित की । वह स्वयं शिव का ही राज्य उनके प्रतिनिधि रूप में चलाते रहे । गंगा-तट पर अश्वमेध यज्ञ करने की योजना बन रही थी । कान्तिदत्त और नवदेवी का सुखद पुनर्मिलन हुआ । वह दोनों चण्डीगढ़ में ही रहने लगे । मालव, यौधेय, कुणीन्द प्रजातन्त्र

फिर से आर्य नवनाग की संरक्षकता में स्थापित हुए। अनन्त देव अपनी वर्षों पूर्व खोई हुई बहिन अनन्ता को अपने साथ ही ले जाना चाहते थे, किन्तु किसी प्रकार भी अनन्ता जाने की स्वीकृति न दे सकी। अतः अनन्ता महादेवी के पास ही रह गई। चन्द्रभाल और शंखचूड़ युवराज भट्टारक पादीय महानायक बनाये गये। शंखचूड़ और शुभा अपने नवीन सम्राट् द्वारा प्रदत्तगढ़ में प्रस्थान कर गये। विजया चन्द्रभाल के साथ गढ़ मंडलेश्वर में आगई। अतिशय वृद्ध गिरिभाल की प्रसन्नता का अन्त ही न था। केवल उन्हें दो ही बातों का दुःख था, एक तो यह कि स्वतन्त्रता-युद्ध में वह भाग न ले सके और दूसरा विशालाक्षी का गोलोक सिंधारना। विजया उनकी हर प्रकार से सेवा करती थी, किन्तु वह और प्रमदा दोनों ही विशालाक्षी को किसी प्रकार भी विस्मरण नहीं कर पाते थे। बहुत दिन हुए मध्य प्रदेश में ही विजया ने उन्हें बताया था कि वह वत्सवंश के युवराज की वाग्दत्ता है। यह सूचना उसे अपने पिता से मिली थी। कान्तिपुरी के राजमहल में राज्याभिषेक के अवसर पर चन्द्रभाल ने देखा कि विजया के नेत्र रह-रहकर राजवत्स को ही खोजने लगते हैं और राजवत्स के व्याकुल नयन भी इधर-उधर विजया की ही खोज में रहते हैं। राज्याभिषेक सकुशल हो गया। ये लोग लौट भी आये, किन्तु चन्द्रभाल की पैनी दृष्टि से यह छिपा न रहा कि विजया कुछ उदास-सी ही रहती है। अतः वह एक दिन निश्चय करके वत्सराज के अतिथि बनने ही चल दिये। वत्सराज ने अत्यधिक आदर-सम्मान से उन्हें ठहराया। अवसर पाकर राजवत्स से बातचीत होने लगी।

“नहीं जानता, किन्तु आपकी आज्ञा मेरे लिए तो गुरुजनों की ही आज्ञा है,” कुछ-कुछ समझकर कहा राजवत्स ने। उसका हृदय अप्रत्याशित आनन्द की कल्पना से उछलने लगा।

“राजवत्स ! क्या तुम विजयशूर की गुणवती कन्या को प्रहण

कर सकोगे ?” अचानक भूमिकारहित चन्द्रभाल कह उठे । राजवत्स कुछ हिचकिचाए; फिर उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—“मेरा तो यह परम् सौभाग्य होगा, किन्तु देवी स्वीकार करेंगी ?”

चन्द्रभाल मौन ही रहे, फिर कहने लगे—“तो तुम्हें स्वीकार है ।”

अत्यन्त हिचकिचाते हुए राजवत्स ने कहा—“किन्तु वह तो कहती थीं कि वह यावज्जीवन अपने भैया की ही सेवा करेंगी ।”

“वह सब ठीक है राजवत्स ! किन्तु तुम सब लोग मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दो । जो इस लोक में सदा-सर्वदा मेरे ही कार्य में संलग्न रही, जिन्हें मेरी, मेरे वंश की, चिन्ता ही सदा इच्छित रही वही इस लोक में और परलोक में मेरी चिरकाल की साथिन थीं उनके अभाव की पूर्ति विजया जैसी बहिन से भी नहीं हो सकेगी । मैं तुम दोनों के सुख में बाधक नहीं होऊँगा ।” कहकर चन्द्रभाल खड़े हो गये । अस्त होते सूर्य की किरणें उनके उज्ज्वल गौर भाल पर पड़ रही थीं । उनका लम्बा-ऊँचा शरीर किसी योगी का कलेवर जान पड़ता था । राजवत्स ने उठकर उनके चरण छू लिये । उन्होंने राजवत्स को हृदय से लगाकर कहा—“मेरा कर्तव्य अभी शेष है, भाई ! अन्यथा मैं भी उसी लोक में चला जाता, किन्तु शंकर को अभी कुछ और कार्य लेना शेष है ।” और दो-एक दिन रहकर चन्द्रभाल लौट आये । विजया किसी प्रकार भी विवाह करने की स्वीकृति नहीं देती थी । चन्द्रभाल की चिन्ता बढ़ती ही जाती थी ।

अवमृथ-स्नान

“आज हमारा पुनीत कर्तव्य पूर्ण हुआ । अन्तिम कुशनराज वासुदेव के साथ-ही-साथ कुशन राज्य का अन्त हो गया । शिव-भक्त, शिव-सेवक ‘नैव मूर्द्धा भिषिक्तास्ते’ आज इस पवित्र परम् पुनीत परम्परा का पुनरुद्धार कर रहे हैं । यह पवित्र भूमि उन्हीं की हो सकती है जो पवित्र मन्त्रोच्चार का आधार लेकर खड़े हों । आर्य नवनाग ने हमारा यह राजनीतिक एवं सर्वराष्ट्रीय जन्मसिद्ध अधिकार प्रमाणित कर दिया है । आज से वर्षों, युगों, शताब्दियों पश्चात् भी इनका परिचय दिया जायगा, यह कहकर ‘अंश भार सन्निवेशित शिवलिंगो द्वाह न शिव सुपरितुष्ट समुत्पादित राज वंशान्तम् पराक्रम आधिगत-भागीरथी-अमल जलः मूर्द्धा भिषिक्तानामश्वमेध-अवमृथस्नानाम् भारशिवानाम् ।’ आज हम सबने स्वतन्त्र देश में वास करने वाली माँ गंगे के जल में अवमृथ-स्नान करके अपने शरीर को पवित्र किया । मेरा स्वप्न, मेरी कल्पना, स्वर्गीय त्रिलोचन पण्डित की आशा, स्वामिन् आर्य सम्राट् शिवदात की इच्छा पूर्ण हुई । आज नवनाग इस दिगन्त-से उस दिगन्त तक विस्तृत साम्राज्य के सम्राट् हुए ।”

पवित्र श्वेत रेशमी वस्त्र में नवनाग की सुगठित देह संगमरमर की भाँति उज्ज्वल दिखाई दे रही थी । विशाल जन-समूह के उच्च जयघोष के भीतर नवनाग ने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया । आर्य ऋषि, मुनियों, पुरोहितों, गुरुजनों की वन्दना की । तत्पश्चात् उन्होंने घोषित किया उच्च स्वर में—“मैं नागवंशीय नवनाग विश्व के किसी भी साम्राज्य का सम्राट् नहीं

हूँ...मैं तो केवल संहारकर्त्ता पुनरेव पालन तत्पर महादेव शिव का सेवकमात्र हूँ, अतः महाराजाधिराज सम्राट् आदि पदवियाँ मुझे योग्य नहीं जँचत। मैं केवलमात्र पृथ्वी का उनके प्रतिनिधि रूप से स्वामिन् मात्र ही रहूँगा। गुरुजन मुझे आज्ञा दें।” जनता सुनते ही आनन्द से विक्षिप्त हो उठी। जयघोष से पृथ्वी-आकाश एक हुए जा रहे थे। आनन्द हृदयों में समा ही नहीं रहा था। इसी समय एक अत्यन्त वृद्ध जर्जर शरीर लिए भीड़ को चीरते हुए एक ओर से चन्द्रभाल और दूसरी ओर से विजया के कन्धे का सहारा लिये चले आ रहे थे। प्रमदा मार्ग बनाती आ रही थी। वृद्ध के शरीर पर एकमात्र गीला रेशमी वस्त्र था। निकट आने पर उन्होंने कम्पित स्वर से कहा—“कीर्तिप्रभु कहाँ हो ? मुझे नवनाग के दर्शन तो कराओ। कहाँ हो त्रिलोचन पण्डित के पुत्र ? मुझे सम्राट् को अभिवादन करने दो।” वृद्ध कीर्तिप्रभु दौड़कर वृद्ध से लिपट गये।

“गिरिभाल ! अब उस युग के हम दो ही तो रह गये हैं।” जनता स्तब्ध खड़ी इन दो युगों-पूर्व की मूर्तियों का अपूर्व मिलन देखती रही। सबके नयनों से वर्षा हो रही थी। परिस्थिति समझकर स्वयं नवनाग उच्च वेदी से उतरकर वृद्ध के निकट आ गये। उन्होंने वृद्ध के चरण छुए। वृद्ध ने कठिनाई से कम्पित हाथों से उन्हें हृदय से लगा लिया।

भावुकता के कुछ क्षणों पश्चात् गिरिभाल ने कहा—“सम्राट् नवनाग ! भालवंश ने स्वामी का ऋण चुका दिया। मेरी एकमात्र वंशरक्षिका उस लोक सिधार गई। एकमात्र पुत्र तुम्हारी सेवा में है फिर भी आज अवमृथ-स्नान के पश्चात्, अनेकों वर्षों पश्चात्, आर्य सम्राट् के दर्शन करके मेरे नयन कृतार्थ हो गये, धन्य हो गये...अब कोई चिन्ता नहीं है। कुमार वीरसेन समर्थ हैं आप द्वारा स्थापित साम्राज्य की रक्षा भली प्रकार होगी...शंकर आपको

सदा-सर्वदा सफल करें ।” जयध्वनि से एक बार फिर धरती और आकाश काँप उठा । आनन्दोन्मत्त जय-ध्वनि से जान पड़ा कि स्वयं देवता आकाश से पुष्प-वृष्टि करने लगेंगे । गुरुदेव और वृद्ध कीर्तिप्रभु ने गिरिभाल को सादर आसन दिया । अतिशय उदास चन्द्रभाल भी एक ओर बैठ गये । विजया का विवाह निश्चित कर चुकने पर चन्द्रभाल की उदासी और बढ़ गई थी । आनन्दपूर्वक उत्सव का कार्यक्रम समाप्त हुआ । कहीं किसी कोने से दो जोड़ा नेत्र चन्द्रभाल के उदास मुख को देख रहे थे । चन्द्रभाल को बाह्य संसार का ज्ञान न्यून ही था ।

सन्ध्या की हलकी-सी लालिमा में उद्यान के अपेक्षाकृत एकान्त कोने में राजवत्स ने कहा विजया से—“विजया ! मैं तुम्हारे योग्य तो नहीं हूँ किन्तु…”

विजया ने बात काटकर कहा—“ऐसा न कहो किन्तु तुम्हें पा सकूँ ऐसा भाग्य ही नहीं है । भैया को देखते तो हो ।”

यथावसर गुरुजन की आज्ञा प्राप्त करके नवनाग शुभ मुहूर्त में कुमार वीरसेन और अनन्ता देवी का विवाह-कार्य सम्पन्न कर ही चुके थे, अतः अनन्ता समय-समय पर विजया से हास्य कर ही देती थी । अनन्ता को उसी ओर आते देखकर राजवत्स दूसरी ओर खिसक गये ।

अनन्ता ने विजया को अकेले ही खड़े देखकर कहा—“क्यों मानिनी ! राधिका ने कृष्ण को भगा दिया ? अथवा कृष्ण स्वयं ही…”

विजया ने हँसकर कहा—“कृष्ण घोष को देखकर स्वयं ही राधिका को छोड़कर भाग गये ।”

“ऐसी बात ? ना, भाई ! मैं तो अनन्ता ही रहूँगी ! घोष का भय कृष्ण को नहीं होगा ।”

“तब यही ठीक रहा । अब तुम मुझ पर अपना अधिकार

नहीं जता पाओगी ।”

“यह तो कहो कि मानिनी का मान भंजन हुआ कि नहीं, राधिका !”

“जान पड़ता है आजकल निशिवासर यही पाठ पढ़ा जा रहा है । तुम्हीं कहो कि विजय किसकी होती है ? तुम्हारी अथवा तुम्हारे कृष्ण की ?”

“मेरे कृष्ण तो सदा मेरे आँचल से ही बँधे रहते हैं । भय है ना कि किसी कुब्जा की दृष्टि न पड़ जाय ।”

दोनों निर्दोष हँसी हँस दीं । अनन्ता ने विजया को चुटकी लेते हुए कहा—“यूँ कब तक तरसाओगी बिचारे वत्सराज को ? एक पक्ष के लिए अश्वमेध में सम्मिलित होने आये थे, किन्तु दो मास हो गये, जाने की सुधि ही नहीं है । अब तो दया करो देवी जी !”

“सच बताना कुछ पुरस्कार मिलेगा क्या उनका पक्ष लेने से ?”

“अवश्य मिलेगा किन्तु बता देने से तो फिर तुम्हें भी भाग देना पड़ेगा ना ! ना, ना, मैं नहीं बताऊँगी । भला क्यों बताऊँ कह तो सही । कोई अपनी वस्तु में किसी को भाग देता है क्या ?” कृत्रिम गम्भीरता से उसने कहा । फिर दोनों ही ठठाकर हँस दीं ।

दूसरी ओर अपने प्रकोष्ठ में एकमात्र काष्ठ-आसन पर मृगचर्म डाले चन्द्रभाल मौन बैठे थे । यदि आज विशालाक्षी होती...केवल एक क्षणभर के लिए ही यदि वह उसे पा जाते, उससे बात कर पाते । उसने उन्हें अन्तिम समय देखा और कहा—‘नाथ !’ अनेकानेक प्रयत्न करके भी चन्द्रभाल उसकी अन्तिम दृष्टि, उसका एकमात्र अन्तिम शब्द ‘नाथ’ विस्मृति के गर्त में डाल ही नहीं पाते हैं । उनके चारों ओर यही शब्द मानो सहस्र जिह्वाओं से

रात्रि-दिवस सुन पड़ता है। शंकर-स्तुति से लेकर साधारण बोल-चाल तक में उन्हें वही शब्द वही स्वर सुनाई देता रहता है। कभी-कभी विवश होकर चन्द्रभाल कह उठते हैं—‘माँ ! उमा !! तुमने यह क्या किया ? वह तो तुम्हारी अनन्य भक्त थी। उसने वर्षों निरन्तर एकान्त निष्ठा से तुम्हारी अर्चना की थी। तब यह मेरे ही पापों का फल होगा। वह तो माँ गंगा की तरह निष्पाप, निष्कलंक, पावन थी। उसकी अल्पायु क्यों ?’ और वह व्याकुल हो उठते थे।

उस दिन भी इसी प्रकार कल्पना में ही अपनी प्रिया से सम्भाषण कर रहे थे। द्वार पर किस समय देवी आकर खड़ी हो गई उन्होंने देखा भी नहीं, उधर ध्यान भी नहीं था। लगभग एक घड़ी बीत जाने पर भी जब उनका ध्यान भंग नहीं हुआ तो देवी धीरे-धीरे प्रकोष्ठ के भीतर आ गई। चन्द्रभाल देवी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा रखते थे। इस बार समीप आने पर उनका ध्यान भंग हुआ, किन्तु सन्ध्या के क्षीण प्रकाश में देवी को निज प्रकोष्ठ में अकेले देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ, किन्तु उन्होंने साधारण भाव से कहा—“देवि ! आप इस समय यहाँ कहाँ ?”

देवी ने बिना किसी भूमिका के ही कहा—“चन्द्र ! नहीं जानती विशालाक्षी से मैं बड़ी थी अथवा छोटी, किन्तु पाठशाला में पढ़ते समय अनेकों बार मैंने उसकी वस्तुओं की देख-सँभाल की थी। चंचला विशालाक्षी सदा अपनी वस्तुएँ मुझ पर ही छोड़ दिया करती थी। आज जान पड़ता है उसकी सर्वाधिक प्रिय वस्तु की देखभाल भी मुझे ही करनी होगी।” चन्द्रभाल ने फीकी-सी हँसी हँसकर कहा—“देवि ! जिसकी देख-सँभाल वह स्वयं न कर सकी उसकी देखभाल कोई दूसरा कैसे कर पायेगा ? उसे उसके भाग्य पर ही छोड़िये।”

“विधाता कब किसके कपाल में कौनसा भार ढोना लिख देते हैं इसे कौन जानता है ?”

“सो तो ठीक है किन्तु....”

“किन्तु-परन्तु जाने दो, चन्द्र ! विश्व-ब्रह्माण्ड में कहीं भी तुम अत्रिवंश की कुलवधु का परिचय अपनी बहिन कह के सहज ही दे सकोगे ।”

“इससे मेरा गौरव ही बढ़ेगा, देवि ! किन्तु....”

“सो सब नहीं, चन्द्र ! विशाला की वस्तु की रक्षा करनी ही होगी अन्यथा वह उस लोक में भी मुझे क्षमा नहीं करेगी ।”

“जीजी !” चन्द्रभाल के अश्रु उसकी विशाल आँखों से बलक आये । देवी के नेत्र भी गीले थे, किन्तु उन्होंने अत्यधिक संयम से कहा—“विशालाक्षी और वह दोनों ही स्वर्गलोक में हम दोनों भाई-बहिन की प्रतीक्षा करेंगे किन्तु मृत्युलोक में जब तक शरीर है ही हम दोनों उन्हें यह कहने का अवसर नहीं देंगे कि हमने कठोर कर्तव्यों का पालन नहीं किया । ठीक है ना ?”

“हाँ, बहिन !”

इसी समय अनन्ता और विजया हाथ पकड़े उसी प्रकोष्ठ में आ गये । देवी ने हँसते हुए विजया से कहा—“विजया ! तू ही अपने भैया की एकमात्र भारवाहिका बनी हुई थी । देख तो अब तेरी बड़ी बहिन उनका भार उठाने आ गई है । जा तेरी मुक्ति हुई ।” देवी के कहने के ढंग पर सब हँसने लगे । राजवत्स और वीरसेन साधारण रीति से उसी प्रकोष्ठ के सामने से प्रासाद के भीतर जाते हुए दिखाई दिये । देवी ने उन्हें पुकार लिया । दोनों ने आकर प्रणाम किया । देवी ने हँसते हुए कहा—“भैया ! अब तो विजया को मुक्ति दो । तनिक राजवत्स को भी इस आनन्द के अवसर पर आनन्दित हो लेने दो ।” वीरसेन राजवत्स की ओर देखकर मुस्करा दिये । राजवत्स विजया की ओर दृष्टि बचा-

कर देख रहे थे। अनन्ता ने विजया को एक हलकी-सी चुटकी काटी।

चन्द्रभाल ने खड़े होकर विजया का दक्षिण हस्त राजवत्स के दाहिने हाथ पर रख दिया।

“तुम दोनों सुखी रहो। यही मेरा आशीर्वाद है।”
देवी ने दाहिना हाथ उठाकर कहा—“मैं अत्रिवंश की वधु तुम दोनों को आशीर्वाद देती हूँ कि तुम्हारा समग्र जीवन सुख-सौभाग्य में ही व्यतीत हो।”

देवी के कहने के कृत्रिम ढंग से सब ही मुस्करा दिये। राजवत्स और विजया ने पहले देवी के और फिर चन्द्रभाल के चरण स्पर्श किये।

अब अनन्ता ने विजया का हाथ पकड़कर चन्द्रभाल तथा देवी से कहा—“चलिये, अब अन्य सब ही गुरुजनों को यह दोनों प्रणाम कर आऊँ।”

चन्द्रभाल ने कहा—“तुम लोग स्वामिन् के पास चलो। पिता जी भी वहीं होंगे। हम लोग आते हैं।”

सब लोग चले गये।

चन्द्रभाल ने देवी की ओर देखकर कहा—“देवि ! नहीं बहिन आज आपने मेरे हृदय पर से एक भार उतार दिया।”

“और अपने कंधों पर एक भार धारण कर लिया। यही ना ?”

“बहिन !”

“भैया !” चन्द्रभाल के संयम का बाँध टूट गया था। उनके दोनों नेत्रों से अश्रु-वर्षा होने लगी। देवी भी रो रही थीं किन्तु सम्भवतः दोनों के अश्रुओं में वेदना के अतिरिक्त सहानुभूति-सान्त्वना भी मिली हुई थी। दोनों का हृदय-भार कुछ हलका अवश्य हो गया था।

उपसंहार

चालीस वर्ष पश्चात् भारशिवों के उत्कर्ष-काल में जबकि श्री उनके चरण चूम रही थी...जबकि वह उत्तर भारत के एकछत्र सम्राट् हो चुके थे...जबकि वृद्ध सम्राट् वीरसेन अनन्तादेवी के साथ कान्तिपुर के प्रासाद में बैठकर प्रजारंजन कर रहे थे उनके किये हुए अश्वमेध की चर्चा स्थान-स्थान पर हो रही थी। कुमार ह्यनाग दक्षिणात्य विजय-यात्रा पर गये हुए थे। उनके दक्षिण-विजय सम्बन्धी शुभ समाचार पाकर दोनों ही हर्षित थे। देवी, महादेवी अनन्ता देवी के सुन्दर केश धवल हो गये थे। किन्तु बिना ही किसी निश्चित सूचना के एक दिन अचानक ही विजयी युव-राज कुमार ह्यनाग को सम्राट् ने अपने सम्मुख खड़ा पाया उदास-सा। उन्होंने कुमार को हृदय से लगा लिया। देवी, महादेवी अनन्ता ने कुमार का भाल सुँघा। माता ने पुत्र से पूछा—“कुमार विजयी होकर भी उदास और अकेले बिना समाचार दिये ही क्यों लौटे हो?”

कुमार ने उदास मुख से उत्तर दिया—“माँ ! विजय तो प्राप्त हुई, किन्तु जिन्हें विजय का श्रेय मिलना चाहिए था उन्हें लौटाकर न ला सका।”

“क्यों बेटा ?” माँ ने स्नेह से पूछा।

महादेवी युद्ध की विकटता से अपरिचित न थी। उनके मुख रचिन्ता की झलक थी।

“माँ ! आर्य चन्द्रभाल को कृष्णा के तट पर ही छोड़ आया हूँ। महादेवी उन्होंने आपके पुत्र की प्राण-रक्षा करते हुए अपने वृद्ध शरीर का त्याग कर दिया।”

सुनकर सम्राट् वीरसेन और देवी अनन्ता को क्षणमात्र को

कर देख रहे थे। अनन्ता ने विजया को एक हलकी-सी चुटकी काटी।

चन्द्रभाल ने खड़े होकर विजया का दक्षिण हस्त राजवत्स के दाहिने हाथ पर रख दिया।

“तुम दोनों सुखी रहो। यही मेरा आशीर्वाद है।”
देवी ने दाहिना हाथ उठाकर कहा—“मैं अत्रिवंश की वधु तुम दोनों को आशीर्वाद देती हूँ कि तुम्हारा समग्र जीवन सुख-सौभाग्य में ही व्यतीत हो।”

देवी के कहने के कृत्रिम ढंग से सब ही मुस्करा दिये। राजवत्स और विजया ने पहले देवी के और फिर चन्द्रभाल के चरण स्पर्श किये।

अब अनन्ता ने विजया का हाथ पकड़कर चन्द्रभाल तथा देवी से कहा—“चलिये, अब अन्य सब ही गुरुजनों को यह दोनों प्रणाम कर आयाँ।”

चन्द्रभाल ने कहा—“तुम लोग स्वामिन् के पास चलो। पिता जी भी वहीं होंगे। हम लोग आते हैं।”

सब लोग चले गये।

चन्द्रभाल ने देवी की ओर देखकर कहा—“देवि ! नहीं बहिन आज आपने मेरे हृदय पर से एक भार उतार दिया।”

“और अपने कन्वों पर एक भार धारण कर लिया। यही ना ?”

“बहिन !”

“भैया !” चन्द्रभाल के संयम का बाँध टूट गया था। उनके दोनों नेत्रों से अश्रु-वर्षा होने लगी। देवी भी रो रही थीं किन्तु सम्भवतः दोनों के अश्रुओं में वेदना के अतिरिक्त सहानुभूति-सान्त्वना भी मिली हुई थी। दोनों का हृदय-भार कुछ हलका अवश्य हो गया था।

उपसंहार

चालीस वर्ष पश्चात् भारशिवों के उत्कर्ष-काल में जबकि श्री उनके चरण चूम रही थी...जबकि वह उत्तर भारत के एकछत्र सम्राट् हो चुके थे...जबकि वृद्ध सम्राट् वीरसेन अनन्तादेवी के साथ कान्तिपुर के प्रासाद में बैठकर प्रजारंजन कर रहे थे उनके किये हुए अश्वमेध की चर्चा स्थान-स्थान पर हो रही थी। कुमार हयनाग दक्षिणात्य विजय-यात्रा पर गये हुए थे। उनके दक्षिण-विजय सम्बन्धी शुभ समाचार पाकर दोनों ही हर्षित थे। देवी, महादेवी अनन्ता देवी के सुन्दर केश धवल हो गये थे। किन्तु बिना ही किसी निश्चित सूचना के एक दिन अचानक ही विजयी युव-राज कुमार हयनाग को सम्राट् ने अपने सम्मुख खड़ा पाया उदास-सा। उन्होंने कुमार को हृदय से लगा लिया। देवी, महादेवी अनन्ता ने कुमार का भाल सूँघा। माता ने पुत्र से पूछा—“कुमार विजयी होकर भी उदास और अकेले बिना समाचार दिये ही क्यों लौटे हो?”

कुमार ने उदास मुख से उत्तर दिया—“माँ ! विजय तो प्राप्त हुई, किन्तु जिन्हें विजय का श्रेय मिलना चाहिए था उन्हें लौटाकर न ला सका।”

“क्यों बेटा ?” माँ ने स्नेह से पूछा।

महादेवी युद्ध की विकटता से अपरिचित न थी। उनके मुख चिन्ता की झलक थी।

“माँ ! आर्य चन्द्रभाल को कृष्णा के तट पर ही छोड़ आया हूँ। महादेवी उन्होंने आपके पुत्र की प्राण-रक्षा करते हुए अपने वृद्ध शरीर का त्याग कर दिया।”

सुनकर सम्राट् वीरसेन और देवी अनन्ता को क्षणमात्र को

जान पड़ा कि सब कुछ शून्य ही हो गया। गत चालीस वर्षों से महानायक चन्द्रभाल के बाहुबल और बुद्धिबल पर ही भार-शिव साम्राज्य की कीर्ति आश्रित थी। युवराज की विजय-यात्रा में महानायक बरबस ही युवराज के साथ गये थे। युवराज कुमार ह्यनाग कह रहे थे—“पिता ! महानायक ने मृत्यु के क्षणों में केवलमात्र यही कहा था कि सम्राट् से निवेदन कर देना कि भालवंश भारशिवों की सेवा में ही समाप्त हो गया। शंकर उनका मंगल करें ”

तत्पश्चात् अधिक रक्त निकल जाने से दुर्बल उनकी देह एक ओर लुढ़क गई। वह कह रहे थे—“मैं आता हूँ विशालाक्षी ! तुमने वही किया था जो कि तुम्हारे गौरव के अनुरूप ही था किन्तु चन्द्रभाल भी वही करता रहा जो कि तुम्हारे गौरव के उपयुक्त ही था...”

“हे शिव !”...और सब समाप्त था। अनन्ता ने मन-ही-मन कहा—“तुम धन्य थीं विशालाक्षी...कितना जीवन · कितना प्राण भर गई थीं तुम चन्द्रभाल में...”

प्रासाद में हाहाकार के साथ क्रिया आदि सम्पन्न कौ गई। देवी ही केवल उदासीन मुख से शिव-मन्दिर में बैठी रहीं।

सुनकर भी उन्होंने केवल इतना ही कहा—“भाई ! तुम अनन्त में लीन हो गये · मैं अच्छा...शिव प्रभो चन्द्रशेखर तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो।” और गीले नयनों से ही पूजा में लीन हो गई।

रात्रि के घने अन्धकार में चुपचाप कोई एक और प्राणी अभु-जल से भूमि सिक्त कर रहा था किन्तु उसके नेत्रों के जल की चिन्ता ही किसे थी...उसे जानता ही कौन था...उसकी नयन जल-राशि किसके हृदय में अनन्त पीड़ा उत्पन्न कर पाती थी...वह थी वृद्धा अशक्त प्रमदा।

उसने सुनकर मन-ही-मन कहा—“देवि ! क्या एक बार और तुम्हें न देख पाऊँगी ?” उसके मन का विश्वास स्वयं ही व्यंग्य से खिलखिलाकर हँस उठा। इतिहास के पन्ने गर्व से मुस्करा दिये।

मानव-हृदय की चिरन्तन कथा की कथा सुनकर... उन्होंने कह दिया कल्पना से... मानव-हृदय की मूक मौन वेदना से... विश्व के अनश्वर सत्य से यह सब हमारे लिए नहीं है। हम तो केवलमात्र जानते हैं घटनाएँ... मुस्कराकर कल्पना ने कहा—“मानव के हृदय की यही व्यथा, वेदना सत्य है, अनश्वर है, चिरन्तन है इसी को लिये-दिये तो मानव बना है।”

प्रमदा के आँसू... देवी की मूक वेदना दोनों ही एक स्वर से चिल्ला उठीं।

“तुम धन्य हो विशालाक्षी !”

और वह सचमुच धन्य ही थीं। और धन्य है मानव की चिर-जीवी व्यथा, मूक सहनशीलता और संयमित वेदना... उसे लिये-दिये ही तो मानव गर्व से सिर उठा पाता है... धन्य है उसका त्याग, उसकी विरक्ति उसका वैराग्य... उसका निस्वार्थ बलिदान इन्हीं सब को लिये-दिये तो वह मानव है... केवलमात्र मानव...

युवराजकुमार ह्यनाग भागीरथी के पुनीत तट पर खड़े हुए व्योम-आकाश में अस्त होते सूर्य की किरणें देख रहे थे। उसका हृदय वैराग्य से पूर्ण था। मन-ही-मन वह कह रहे थे—“यह कैसा खेल है चन्द्रशेखर ! यह कैसी लीला है तुम्हारी महादेव ! हे देवादिदेव... कीर्ति... महत्ता... पराक्रम... और फिर सबका अन्त सर्वथा शून्य।”

अचानक ह्यनाग को जान पड़ा कि हृदय में प्रकाश भरता जा रहा है। कोई उसके कानों में कह रहा है—“यही तो मानव का मानवत्व है। इसी से तो वह देवताओं के लिए भी

प्रलोभनीय है...यही तो है उसका गौरव...शून्य में ही तो उस जीवन भर की तपस्या का प्रसाद निहित है..." महाप्रचण्ड अं माली अस्ताचल में खो गये...भागीरथी के शून्य तट पर अन्धक भरता जा रहा था और वहीं सुदूर पथ पर कोई गाता जा था—“बढ़ता क्यों है जा रहा यह अन्धकार ? देने को प्रकाश महत्त्व ही .. बढ़ता ही तो जा रहा है अन्धकार...बढ़ता क्यों है रहा यह अन्धकार ...”

